हिन्दी-गौरव-ग्रंथमालाका २३ वाँ ग्रंथ ।

सम्राट् हर्षवर्धन ।

[...नके अन्तिम आर्य-सम्राट् हर्षवर्धनका जीवन-वृत्तान्त ।]

—:o:—

लेखक,

...(सम्पूर्णानन्द बी० एस-सी०; एल० टी०

(...ाराज छत्रसाल, भारतके देशी राष्ट्र, महादजी सिंधिया, आदिके रचयिता ।)

—:o:—

प्रकाशक,

गाँधी हिन्दी-पुस्तक भंडार,

कालबादेवी—बम्बई ।

प्रथम संस्करण ।

मूल्य ॥) आने ।

माघ १९७७

प्रकाशक,
उदयलाल काशलीवाल,
गाँधी हिन्दी-पुस्तक भंडार,
कालबादेवी—बम्बई,

प्रिन्टर मंगेशराव कुलकर्णी
कर्नाटक स्टीम प्रेस
४३४ ठाकुरद्वार बम्बई

भूमिका

वीन इतिहासको जानना प्रत्येक शिक्षित मनुष्यका कर्तव्य है, पर ऐसे हैं जो इस कर्तव्यको पालन करनेसे वंचित रह जाते हैं। मूल-ँगरेजीमें हैं, जो बहुतोंको पूर्णतया अज्ञात हैं। अँगरेजीमें भी लेली पुस्तकें बहुतसे विषयोंका इतना संक्षिप्त वर्णन देती हैं कि ां तक रह जाते हैं उनको बहुत कम ज्ञान होने पाता है। अतः इस यकता है कि भारतीय इतिहासके प्रधान प्रधान नायकों और प्रधान ओंके वृतान्त पृथक् पृथक् एकत्र करके जनताके सामने लाये जायँ। न्तोंके पढ़नेसे तीन प्रधान लाभ होते हैं। एक तो अपने प्राचीन चलता है, जात्यभिमानकी वृद्धि होती है, स्वावलम्बनकी योग्यता जो काम हमारे पूर्वजोंने किया, वह हम भी कर सकते हैं, यह रित होता है।

हुतसी कुधारणाएँ दूर हो जाती हैं। हम लोग समझने लगे हैं कि ानमें व्यक्तिगत स्वतंत्रता थी ही नहीं, प्रजाके साथ गुलामोंका सा या जाता था और राजा लोग उच्छृङ्खल, निरङ्कुश, स्वेच्छाचारी मारे स्कूली इतिहासने यह भाव हममें कूट कूट कर भर दिया है, अध्ययन इसको दूर कर देता है। सर्व-साधारणके सामने सद्धारणा-की आवश्यकता है। यदि भारतीय प्राचीन इतिहास पढ़ा पढ़ाया वेलके निम्न-लिखित बातोंकी सत्यता स्वयं प्रकट हो जाय।

ental despotism was of Tartar or Mongolian ı; it was never recognised by Indo-Aryan nal laws.

ıe liberty of the Englishman was wrung from ıg rulers by bitter struggles and by civil war. Aryan constitution was a free gift of the in-

tellectuals to the people," प्राच्य उच्छृङ्खलता तातारों अं
उत्पन्न हुई। भारतकी प्राचीन नीतिमें इसका कोई स्थान नहीं है।
शासक उनको स्वातंत्र्य देनेके अनिच्छुक थे, इस लिये आपसमें ह
हुई। भारतमें, विद्वानोंने (वैद्य) शासन-पद्धति अपनी ओरसे
कर दी।"

तीसरा लाभ यह होता है कि हमको अपने अधःपतनके कार
जाते हैं। केवल बड़ोंकी गाथा गानेसे काम नहीं चलता—उन बातोंको
चाहिए जिन्होंने उनको गिराया, तभी भविष्यके लिये गिरनेसे हम ब

हर्षवर्धनका भारतीय इतिहासमें क्या स्थान था यह पुस्तकके आ
यमें दिखलाया गया है। वह भारतके अन्तिम आर्य्य-सम्राट् थे। इ
उनका परिचय हमको होना चाहिए, इसी लक्ष्यसे यह छोटं
लिखी गई है।

इसके लिखनेमें मुझे History of Aryan Rule in I
Havell और Early History of India by Vincen
से विशेष सहायता मिली है। बाणके 'हर्षचरित' से भी हर्षके ज
भाग पर प्रकाश पड़ता है और उससे यथास्थान सहायता ली भी
उसमें शब्दाडम्बर बहुत और ऐतिहासिक तत्त्व थोड़ा ही है।

पुस्तकमें जो विक्रमाब्द दिये गये हैं उनमेंसे ५७ घटानेसे सि
ईसवी सन् निकलते हैं।

बीकानेर,
चैत्र कृ० १२, १९७६।

सम्पूर्णान

विषयसूची ।

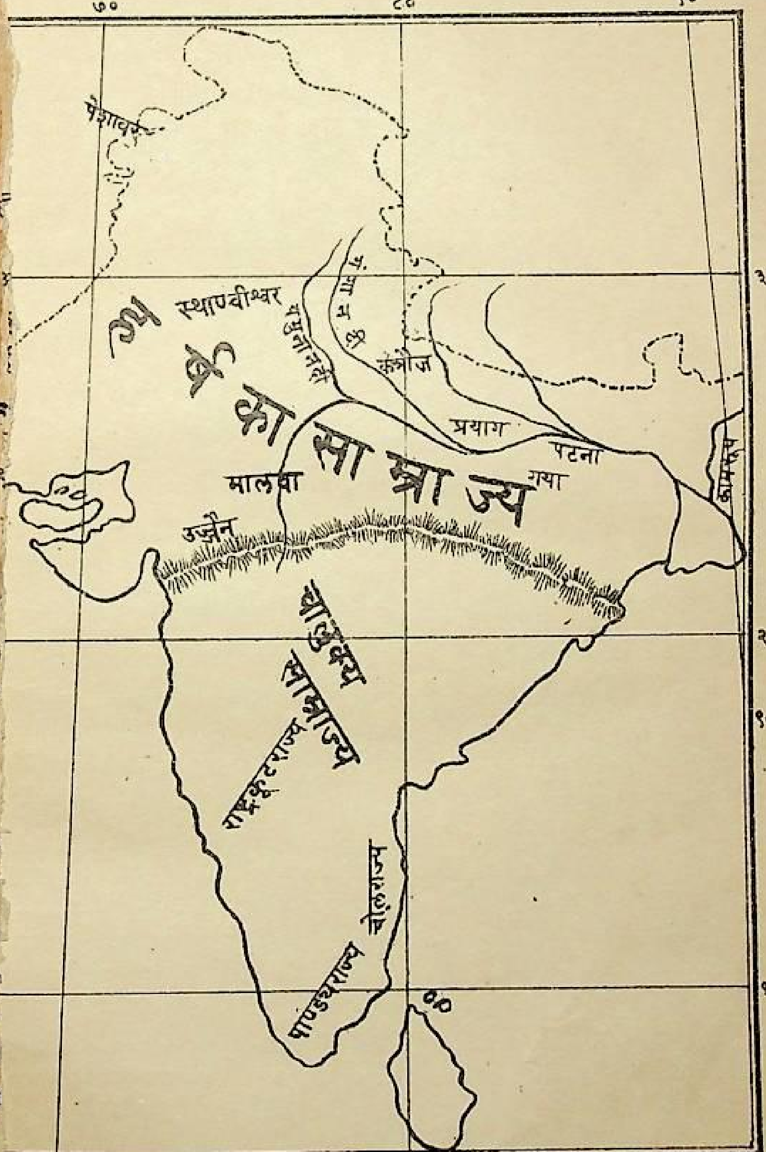
रों अं
है ।
नमें इ
ोरसे

कार
ातोंको
हम ब
के अ
थे । इ
छोट

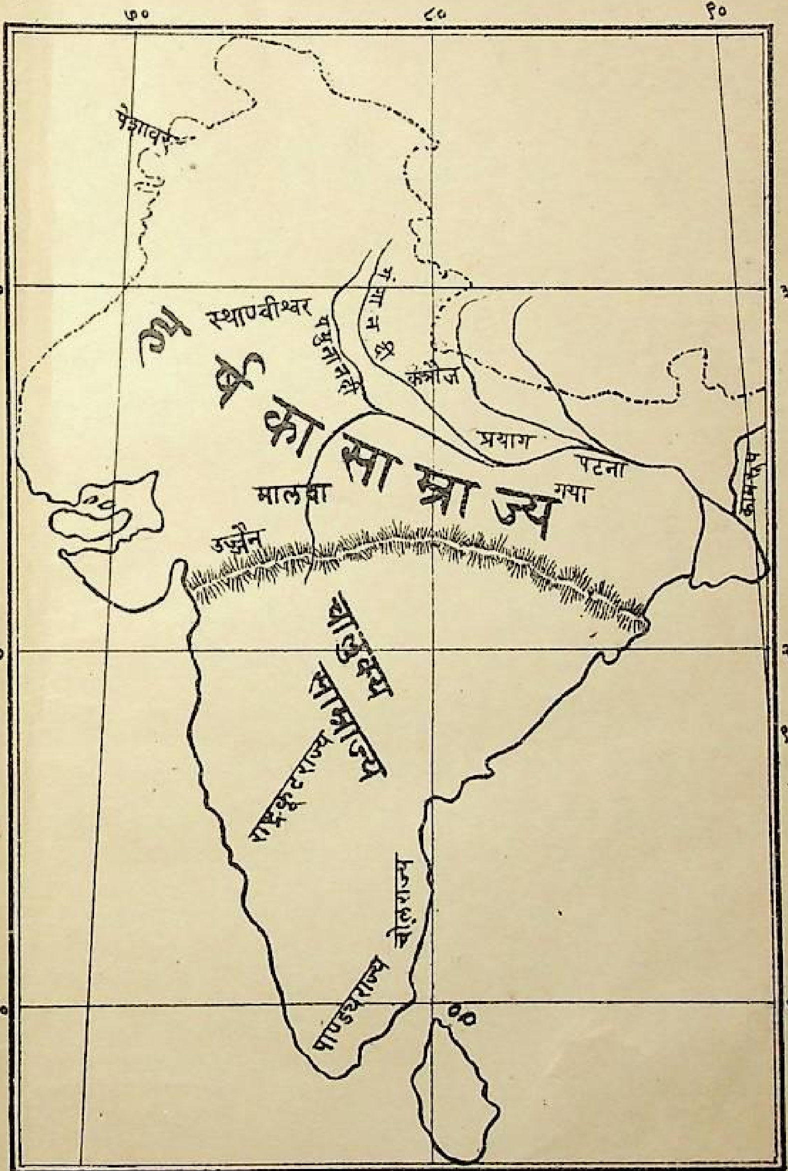
n I
cen
के ज
भी र

से सि

ृर्णान



श्रीकृष्णेश प्रिंटिंग प्रेस. मुंबई नं. ४



श्रीकरुणेश प्रिं. प्रेस. मुंबई नं. ४

सम्राट् हर्षवर्धन ।

प्रथम अध्याय ।

छठवीं शताब्दिमें भारत ।

छठवीं शताब्दिका भारतीय इतिहास आल्हादक नहीं है। उसमें ऐसी बहुतसी बातें हैं जो हृदयको दुःखित करती हैं, बहुत कम ऐसी घटनाएँ हैं जो जात्यभिमानको वर्धित कर सकती हैं।

देशकी धार्म्मिक और राजनैतिक—दोनों दशाएँ डावाँडोल हो रही थीं। उस समय तक प्राधान्य बौद्धधर्म्मको ही था, पर अब बौद्धधर्म्मकी वह अवस्था न थी जो अशोकके समय थी। अशोक भारतके एकच्छत्र सम्राट् और बौद्धधर्म्मके अनन्य अनुयायी थे। उन्होंने राजकी सारी शक्तियोंको बौद्धधर्म्मके प्रचारमें लगाया। परिणाम यह हुआ कि न केवल समस्त भारत वरन् बर्म्मा, श्याम, कम्बोडिया, चीन तक बौद्ध-धर्म्म फैल गया, लङ्का बौद्धधर्मका एक केन्द्र बन गया और दूरस्थ यूनान और मिश्र तक उसका प्रभाव पड़ा।

पर अब वह बात न थी। एक तो कोई एकच्छत्र नरेश न था जो बौद्धधर्म्मको राजाश्रय देता, दूसरे बौद्धधर्म्ममें स्वयं दो विभाग या

सम्प्रदाय हो गये थे। महायान सम्प्रदाय और हीनयान सम्प्रदाय। हीनयान सम्प्रदाय तो प्राचीन बौद्ध सिद्धान्तोंको बहुत कुछ निबाह रहा था, परन्तु महायानमें वैदिक धर्म्मकी बहुत कुछ छाया पड़ गई थी। आदि बौद्धधर्म्मके अनुसार किसी व्यक्तिविशेषकी उपासना, चाहे वह व्यक्ति कितना ही बड़ा सिद्ध, ऋषि, देव, क्यों न हो, निरर्थक है। स्वयं बुद्धदेव एक आदर्श पुरुष और पथ-प्रदर्शक हैं, उपास्य नहीं। परन्तु महायान सम्प्रदायमें बुद्धको एक प्रकारसे वही स्थान दिया गया है जो अन्यमतावलम्बी ईश्वरको दिया करते हैं। महायानके अनुसार बुद्ध सद्गतिके दाता हैं और भक्तोंकी प्रार्थना सुन कर उनके दुःखोंको दूर करते हैं। आज कल चीन, जापान, तिब्बत-में महायान और लङ्का, बर्म्मा, श्याममें हीनयानका प्रचार है।

इससे बहुत उतर कर देशके कई प्रान्तोंमें जैनधर्म्मका भी अच्छा प्रभाव था।

सबसे महत्त्वकी बात यह थी कि वैदिक धर्म्मका पुनरुत्थान हो रहा था। यों तो बौद्धधर्म्मके देशव्यापक प्रचारके समयमें भी प्राचीन धर्म्म पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया था—इसके भी लाखों अनु-यायी थे—पर अब बौद्धधर्म्मके क्रमशः ह्रास और लोपके साथ साथ उसका दिन फिर पलटने लगा, यहाँ तक कि उसने बौद्ध-धर्म्ममें भी घर कर लिया। बात यह थी कि शुद्ध बौद्धधर्म्म, उसका दार्शनिक महत्त्व कुछ भी हो, सामान्य जनताके लिये शुष्क और नीरस-प्राय था। साधारण मनुष्यके लिये वही धर्म्म उपयुक्त होता है जो मस्तिष्कके ऊपर हृदयको स्थान देता है, जिसमें एक वरप्रद, शान्तिदायक, अभयङ्कर, उपास्यकी कल्पना होती है। हीनयानमें इसकी कमी थी। सनातन धर्म्म दार्शनिकके साथ साथ उपासना-मूलक

भी है। इसी लिये धीरे धीरे जनतामें उसका पुनः प्रचार हो जाना स्वाभाविक था। महायान बौद्धधर्म्मने उसका किञ्चित् अनुकरण किया पर धीरे धीरे उसीमें अन्तर्हित हो गया।

यों तो सनातन धर्म्मके सभी अङ्गोंकी वृद्धि हुई और उसके सभी सम्प्रदायोंका विकाश हुआ, परन्तु जहाँ तक पता चलता है शैव सम्प्रदायकी पहले पहले अधिक उन्नति हुई। कई नरेश इसके अनुयायी थे।

सारांश यह कि देशकी धार्म्मिक अवस्था अनिश्चित थी। इतना अवश्य प्रतीत हो रहा था, चाहे उस समयके लोगोंको इसका अनुभव हुआ हो या न हुआ हो, कि सनातन वैदिक धर्म्मका शीघ्र ही अभ्युदय होनेवाला है, परन्तु बौद्धधर्म्म अब भी देशका प्रधान और प्रायशः राजपोषित धर्म्म था।

यह तो धार्म्मिक अवस्था हुई। राजनैतिक अवस्था और भी बिगड़ी हुई थी। उससे हानि भी अधिक हो रही थी। अब देशमें चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्त, द्वितीय चन्द्रगुप्त, आदिकी भाँति कोई बलशाली सम्राट् नहीं था। जिसके हाथ देशका जो टुकड़ा लग गया वह उसका स्वतंत्र नराधिप बन बैठा। सभी अपने अपनेको महाराजाधिराज, 'चक्रवर्ती' आदिकी उपाधि दे लिया करते थे। जिस 'आत्म-निर्णय' (self-determination) की आज इतनी धूम मच रही है वह उस समय भारतके अनेक टुकड़ोंको प्राप्त था। जहाँ इतने स्वतंत्र राज्य थे वहाँ शासन भी कई प्रकारका रहा होगा। कई प्रकारकी शासन-प्रणालियोंकी परीक्षा होती रही होगी। छोटे छोटे नरेशोंको आत्मरक्षाके लिये प्रजाकी प्रसन्नताका भी निरन्तर ध्यान रखना पड़ता रहा होगा।

परन्तु इस अनियंत्रित आत्मनिर्णयमें कई दोष थे। प्रत्येक व्यक्तिके लिये उसका छोटासा नगर या राज ही देश हो गया। उसके बाहर परदेश था। इस लिये जनताकी सारी शक्ति एकत्र नहीं हो सकती थी। जिस बलके द्वारा अशोकादिने इतने बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे वह छिन्न भिन्न हो गया। इसका फल भी चखना पड़ा।

भारतका वायव्य कोण सदैवसे भयस्थान रहा है। उधर ही अफ़गानिस्तान, तातार, साइबीरिया आदि भूखे देश हैं जिनकी भूमि अपनी सन्तानका पेट नहीं भर सकती। अतः इन लोगोंको जीविकाकी खोजमें अन्य देशों पर आक्रमण करना ही पड़ता है। पूर्वकालमें भारत पर जितने प्रधान आक्रमण हुए हैं सब इधरहीसे हुए हैं।

इसी द्वारसे आर्य्योंके सहस्त्रों वर्ष पीछे शकोंने प्रवेश करके अपना राज्य स्थापित किये थे। शकोंके पीछे, तातारकी युएहचि नामक जातिने इधरको मुँह मोड़ा। इनकी कुशान नामक एक शाखाने प्रथम कैडफ़िसीज़के नेतृत्वमें पश्चिमीय भारतमें अपना राज्य स्थापित किया। कैडफ़िसीज़के पौत्र कनिष्कने प्रायः समस्त उत्तर भारतको स्व-वश करके गान्धार (वर्तमान कन्दहार), खोतन आदि तक अपना राज्य फैलाया। उसने लगभग सं० १८२ वि० से २०७ वि० तक राज्य किया।

कुशानोंने भारतको जीता तो, पर स्वयं भारतीय सभ्यतासे विजित हो गये। कुशान-नरेशोंने 'महाराज' की पदवी धारण की। कनिष्कने बौद्धधर्म्म अङ्गीकार करके उसका बहुत कुछ प्रचार किया।

इसके डेढ़सौ वर्ष पीछे चन्द्रगुप्तने गुप्त साम्राज्यकी नींव डाली, उसके पुत्र समुद्रगुप्तने इस साम्राज्यका विस्तार बहुत बढ़ाया। अँगरेज

ग्रन्थकार इनको 'भारतीय सिकन्दर' कहते हैं। इनके पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्तने, जिन्होंने अभिषेकके पीछे विक्रमादित्यकी उपाधि धारण की, भारतसे अन्तिम फ़ारसी क्षत्रप रुद्रसेन और शक नरेशोंको निकाल बाहर किया। एक बार फिर भारत विदेशी शासनसे छुटकारा पा गया।

लगभग १५० वर्ष तक इस राजवंशके वैभवका काल था, फिर इनका बल घटने लगा। प्राधान्य यद्यपि अब भी इनको था, पर न तो वह राज्य रह गया न वह बल, फिर 'आत्मनिर्णय' का समय आ गया।

इसी समय एक महा आपत्तिने भारत पर अवतरण किया। कोई रक्षक तो था ही नहीं, पश्चिमोत्तरीय द्वार फिर खुल गया और इस बार शक, कुशान आदिसे कहीं भयङ्कर हूण जातिने उसमें पदार्पण किया।

यह हूण जाति भी मध्य एशियासे निकली थी। योरपमें इसने रोमन साम्राज्यको मिट्टीमें मिला दिया। इसके नेता ऐटिलाको ईश्वरीय 'महादण्ड' (The Scourge of God) कहते थे।

योरपकी गॉथ जाति पर ऐटिलाके आक्रमणका जो परिणाम हुआ उसका वर्णन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासज्ञ गिबन* हूणोंका इस प्रकार चित्र खींचते हैं:—"हूणोंकी संख्या, उनके बल, उनकी तीव्र गति और उनकी अदम्य क्रूरताने गॉथोंको अचम्भे और भयमें डाल दिया। यह लोग खेतों और गावोंको जला देते थे और बे-सोचे विचारे सभी निवासियोंको मार डालते थे। चीत्कारमय बोली, असभ्य चालढाल और विचित्र कुरूपता और भी आश्चर्य्य और घृणा उत्पन्न करती थी। इनके कन्धे चौड़े, नाकें चिपटी, और आँखें

---

*गिबन—२६ वाँ अध्याय (वि० स०)।

छोटी, काली और सिरमें घुसी होती थी। इनको न तो दाढ़ी होती थी न मूँछ, अतः इनका वदन न तो जवानीमें कान्तिमय न बुढ़ापेमें आदरणीय होता था। ”

इस जातिकी एक शाखा तो योरप गई, दूसरीने फ़ारसका सत्यानाश किया। तत्पश्चात् इन्होंने काबुलके कुशान राज्यको ध्वंस किया।

पहले पहले सं० ५१२ के लगभग इनकी एक छोटीसी सेना भारतकी ओर बढ़ी, पर स्कन्दगुप्तने उसे परास्त कर दिया। उस समय तो यह चले गये, पर दस वर्ष पीछे फिर लौटे। इस बार लाख प्रयत्न करने पर भी स्कन्दगुप्त इनको न रोक सके। यह लोग मगधकी सीमामें लूटपाट करते चले गये और इनके नायक तोरमानने सं० ५५७ वि० के लगभग महाराजाधिराजकी उपाधि धारण करके मालवामें राज्य भी स्थापित कर लिया।

सं० ५६७ में तोरमानकी मृत्यु हुई और उसका लड़का मिहिरगुल उसका उत्तराधिकारी हुआ। इसने साकल (वर्तमान सियालकोट) को राजधानी बनाया। यह ऐटिलाका पूर्णावतार था। इसको मूर्तिमती क्रूरता कहनेमें अत्युक्ति न होगी। इसकी उच्छृङ्खलतासे तङ्ग आकर स्कन्दगुप्तके पुत्र नरसिंहगुप्त बालादित्यने एक सेना खड़ी की। मध्यभारतके यशोधर्म्मन् नामक एक राजा और स्थाण्वीश्वर (वर्तमान थानेश्वर) के राजा प्रभाकरवर्धन भी उनके सहायक थे। लगभग ५८५ वि० में इन लोगोंने मिहिरगुलको परास्त करके उसे पकड़ लिया।

इस समय बालादित्यने एक ऐसी नीतिसे काम लिया जिससे हिन्दुओंको कई बार क्षति पहुँची है। ‘शठं प्रति शाठ्यं कुर्य्यात्’—

यह भी एक अत्यन्त उपयोगी और अनुभव-सिद्ध शिक्षा है। अनार्य्य, संस्कार-दूषित, अधर्म्मियोंके साथ दया करना साँपको दूध पिलाना और समुदायका गला घोंटना है। अस्तु, बालादित्यने उस दुष्टको उदारता-पूर्वक छोड़ ही नहीं दिया, प्रत्युत बड़े आदरके साथ घर भिजवा दिया।

यहाँ साकलमें उसका छोटा भाई राजा बन बैठा था। घर-ठिकाना न लगनेसे मिहिरगुल इधर उधर भटकता फिरा। तत्कालीन कश्मीर-नरेशने उसपर दया करके उसको एक छोटासा राज्य प्रदान कर दिया, यह उनके आर्य्य औदार्य्य और भोले हिन्दूपन (वह धर्म्मसे बौद्ध होते हुए भी जातिसे हिन्दू ही थे) का प्रमाण था। मिहिर-गुलने थोड़े ही समयमें विद्रोह खड़ा करके कश्मीरका राज्य स्व-हस्तगत कर लिया। कहते हैं कि वह कश्मीरमें ऊँचे ऊँचे पहाड़ोंसे हाथियोंको नीचे गिरवाता और इस दृश्यको बड़े प्रेमसे देखता था।

कश्मीरके पीछे गान्धारकी बारी आई। उसका नरेश सकुटुम्ब मार डाला गया और सहस्रों निरपराध मनुष्य सिन्धु नदीके किनारे खड़े खड़े मार डाले गये। मिहिरगुल अपनेको शैव कहता था। अपनी धार्म्मिकताका परिचय देनेके लिये उसने बौद्ध मठ और स्तूप खुदवा डाले और संघोंको लूट लिया।

यह घटना लगभग सं० ५९७ वि० की है। उसी साल मिहिरगुलकी मृत्यु हुई। कहा जाता है कि उसके मरते समय अँधेरा छा गया, पत्थर पड़े और बादल गरजे। भयङ्कर आँधी चली। दयार्द्रचित्त महा-त्माओंको यह निश्चय हो गया कि बुद्धधर्म्मकी अवहेलना करने और असंख्य, मनुष्योंका वध करनेके कारण वह 'शाश्वतीः समाः' के लिये महाघोर नरकमें डाला गया।

इसकी मृत्युके पश्चात् हूणोंका बल कम हो गया, परन्तु जाता नहीं रहा । इनकी एक गुर्जर नामक शाखाने राजपूतानेमें राज्य स्थापित किया । इनकी राजधानी भीनमाल या श्रीमाल आबू पहाड़से २५ कोस पश्चिमोत्तर कोण पर है । यही गुर्जर जाति पीछेसे गूजर नामसे विख्यात हुई ।

हूणोंके समयके तीन आर्य्य नरेशोंका नाम तो आ चुका है । इनके अतिरिक्त और भी कई प्रभावशाली नरेश और बड़े राज्य थे । इनमेंसे कईका स्थान स्थान पर इस पुस्तकमें उल्लेख भी होगा, इस लिये यहाँ केवल नाम मात्र ही दे दिया जाता है । पूर्वमें प्राग्ज्योतिष या कामरूप (आसाम) का बृहत् और सबल राज्य था । उससे पश्चिम चल कर गौड़ (मध्य बङ्ग) का राज्य था । उससे पश्चिम मगध था, पर इस प्रदेशमें अब कई छोटे छोटे राज्य रह गये थे । मगधसे पश्चिम कान्यकुब्जका राज्य था । इनसे दक्षिण अवन्ति (उज्जैन) और अवन्तिसे पश्चिम मालव था । मालवके अधीन आनन्दपुर, सुराष्ट्र और कच्छ थे । मालव और सौराष्ट्रके बीचमें वल्लभीका राज्य था ।

यह तो उत्तर भारतके राज्य हुए, दक्षिणमें भी कई प्रबल राज्य थे । यह पल्लव, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि राज्यवंशोंमें बँटे हुए थे । इनमें इस समय चालुक्य प्रबलतम थे ।

यह छठवीं शताब्दिके भारतका चित्र है । देशमें ऐसा कोई नरेश नहीं था जो समुदायकी सारी शक्ति एकत्र करके सबकी रक्षा करता और परस्परके द्रोहको मिटा कर लोगोंको सुख, शान्ति, विद्या, व्यापार, आदिमें रत होनेका अवकाश देता ।

द्वितीय अध्याय।

स्थाण्वीश्वरका राजवंश।

प्रथम अध्यायमें लिखा गया है कि तीन आर्य्य-नरेशोंने मिल कर मिहिरगुलको परास्त किया था। इन तीनोंमें स्थाण्वेश्वर नरेश भी थे। हमारे चरित्र-नायक हर्षवर्धन इन्हींके पुत्र थे। अतः यहाँ पर इस वंशका संक्षिप्त वृत्तान्त देना आवश्यक है।

इस वृत्तान्तके लिये अधिकांश सामग्री बाणके हर्षचरितमें मिलती है। वह ऐसी है कि इतिहासदृष्ट्या पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कही जा सकती, पर अन्य सामग्रीके अभावसे उसीको आधार मानना पड़ता है।

स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के आसपासका प्रदेश श्रीकण्ठ कहलाता था। यह भूमि प्राचीन कालसे ही बहुत पवित्र मानी जाती थी। इसीके निकट महाभारतका युद्ध हुआ था (यहीं पीछे शहाबुद्दीन गोरी और पृथ्वीराजमें दोनों लड़ाइयाँ हुईं)।

स्थाण्वीश्वर अत्यन्त धनधान्य समृद्ध नगर था। यहाँ सभी प्रकारके लोग रहते थे। बाणके अनुसार इसे तपस्वी तपोवन, गायक गन्धर्वनगर, विज्ञानी विश्वकर्मा-गृह, विद्यार्थी गुरुकुल, कामी अप्सरापुर, सज्जन साधु-समागम, विप्र धन-प्रवाह और सिपाही वीरक्षेत्र समझते थे।

यहाँ किसी समय पुष्पभूति नामक एक राजा हुआ। वह परम शैव था। एक बार इस नगरमें भैरवाचार्य्य नामक एक महात्मा आये।

राजा उनसे मिलने गये। पीछेसे योगिराज उनसे मिलने गये। क्रमशः इनमें गाढ़ स्नेह हो गया और राजा आचार्य्यके शिष्य हो गये। साधुने प्रसन्न होकर उनको अट्टहास नामक एक तलवार दी।

कुछ कालके बाद योगिराजने राजासे कहा कि मैंने एक मंत्रका अनुष्ठान किया है, पर वेताल-सिद्धि अभी नहीं हुई है। मैं आगामी कृष्णपक्षकी चतुर्दशीकी रात्रिमें श्मशानमें मंत्र जगाऊँगा। तुम मेरी रक्षा करो। तुम्हारी सहायताके लिये टीटिभ, पातालस्वामी और कर्ण-ताल नामक मेरे तीन और शिष्य वहाँ होंगे।

राजाने यह बात सहर्ष स्वीकार कर ली। योगिराजने निश्चित समय पर जप आरम्भ किया। इतनेमें थोड़ी ही देरमें वहाँकी भूमि फटी और उसमेंसे एक भीषणकाय व्यक्ति निकला। उसने अपना नाम श्रीकण्ठ नाग बतलाया। वह इस बातसे रुष्ट था कि बिना उसकी पूजा किये ही भैरवाचार्य विद्याधर होना चाहते थे। बातकी बातमें उसने टीटिभ आदिको गिरा दिया, पर राजा इससे तनिक भी न घबराये। उन्होंने देखा कि श्रीकण्ठ निःशस्त्र है, अतः अपनी तलवार फेंक कर वे उससे भिड़ गये। थोड़ी ही देरमें उन्होंने उसे दे मारा और तलवारसे उसका गला काटनेका विचार किया। इतनेहीमें उनको उसका यज्ञो-पवीत देख पड़ गया और उन्होंने उसे छोड़ दिया।

इस पर प्रसन्न होकर लक्ष्मीजीने उनको दर्शन दिया और वर माँगनेको कहा। राजाने कहा—"भगवति, यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो मेरे गुरु भैरवाचार्य्यको सिद्धि प्रदान कीजिये।" इस पर देवीने और भी प्रसन्नता प्रकट की। भैरवाचार्य्यको सिद्धि देकर उन्होंने राजाको आशीर्वाद दिया कि तुम एक अत्यन्त बलवान्, प्रभावशाली और दिग्विजयी वंशके मूलपुरुष होगे। इस वंशमें हरिश्चन्द्र, मान्धा-

ताके समान गुण-वीर्य्य-प्रताप-युक्त हर्ष नामक चक्रवर्ती राजा होगा। यह कह कर भगवती पद्मालया अन्तर्धान हो गई।

श्रीकण्ठ भी राजाके पराक्रम और क्षमाशीलताके कारण उनका भक्त हो गया था। वह पाताल जाते समय उनसे समय पर योग्य सेवाकी आज्ञाके लिये प्रार्थना करता गया। भैरवाचार्य्यको विद्याधर-पद तो प्राप्त हो ही गया था। वह राजासे बहुत प्रसन्न थे, इस लिये थोड़े दिन वहीं रह गये, फिर वनको चले गये।

लक्ष्मी और गुरुके प्रसादसे पुष्पभूतिकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। उनका वंश भी वस्तुतः बड़ा ही प्रभाव और विक्रमशाली हुआ; उसने धर्म्मकी और प्रजाकी सर्वतः रक्षा की और अपनी कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी की।

इस कथामें सत्यांश होना असम्भव नहीं है। यह हो सकता है कि पुष्पभूतिको इस प्रकारका आशीर्वाद मिला हो। यदि लक्ष्मीजीके दर्शन देनेकी बात कल्पित भी हो तो भैरवाचार्य्यसे भेंट और उनसे वर प्राप्तिमें कोई अविश्वास स्थल नहीं है। हाँ, यह निश्चय है कि हर्षके जन्मके पहले आशीर्वादका फल प्रायः रुका ही रहा; क्योंकि इनके पूर्व इस वंशके किसी बड़े प्रतापशाली नरेशका इतिहासमें उल्लेख नहीं है स्कन्दगुप्तके समयमें भी इनकी स्थिति गौण ही थी।

तृतीय अध्याय ।

हर्षका जन्म और बाल्यकाल ।

इसी वंशमें प्रभाकरवर्धनका जन्म हुआ था। इनका मातृकुल भी अत्युच्च था, क्योंकि इनकी माता गुप्तवंशकी थी। प्रभाकरवर्धनने अपने पराक्रमसे थोड़े ही दिनोंमें अपने राज्य और प्रभावको बहुत बढ़ा लिया। उन्होंने भीनमालके गुर्जरों और मध्यभारतके मालवोंको परास्त किया और हूणोंके विरुद्ध बालादित्यको सहायता दी। बाणने इन बातोंकी ओर निम्न-लिखित विशेषणों द्वारा सङ्केत किया है:—

"हूण-हरिणकेसरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धाराधिपगन्धद्विपकूटपाकलो मालवलक्ष्मीलतापरशुः" (अर्थात् हूण रूपी हरिणके लिये सिंह, सिन्धुराजके लिये ज्वर-समान, गुर्जरोंकी नींद नष्ट करनेवाले, गान्धार-नरेश रूपी मस्त हाथीके लिये हस्तिज्वर, मालवकी लक्ष्मी रूपिणी बेलके लिये कुठार)।

इनकी रानीका नाम यशोवती था। यह देवी भी सभी समुचित गुणोंकी राशि थीं, और राजाको इनके साथ अत्यन्त प्रेम था। बहुत दिनों तक पुत्र-दर्शन न होनेसे दम्पतिको बड़ी चिन्ता थी। राजा सूर्य भगवान्के बड़े भक्त थे। वह सन्ततिके लिये बड़ी श्रद्धासे उनकी नित्य पूजा करते थे।

अन्तमें उपासना सफल हुई। एक दिन रानीने एक विचित्र स्वप्न देखा। वह 'परित्रायस्व परित्रायस्व' (रक्षा करो, रक्षा करो) चिल्ला उठीं। राजाने उन्हें जगा कर शान्त किया और घबराहटका कारण पूछा। उन्होंने कहा—"मुझे ऐसा देख पड़ा कि सूर्य्यमण्डलसे कुण्डल-कवच-शस्त्रधारी, अत्यन्त प्रतापशाली, सर्व जगत्पूज्य दो कुमार निकल कर पृथ्वी पर उतरे, उनके पीछे पीछे एक सुन्दरी कन्या भी थी। यहाँ आकर उन्होंने शस्त्रसे मेरा पेट चीर कर उसमें प्रवेश करना आरम्भ किया। इसीसे मैं घबरा कर चिल्ला उठी।" राजाने उनको सांत्वना दी और इस स्वप्नको माङ्गलिक माना। उन्होंने रानीसे कहा—"यह हर्षका अवसर है, विषादका नहीं। भगवान् अंशुमाली सूर्य्यदेव हम लोगों पर प्रसन्न हुए हैं। शीघ्र ही तुमको तीन सन्तान देकर आनन्दित करेंगे।"

यह अनुमान अक्षरशः ठीक निकला। क्रमशः रानीको दो पुत्र हुए और एक कन्या हुई। पुत्रोंका नाम राज्यवर्धन और हर्षवर्धन और कन्याका राज्यश्री रक्खा गया। यों तो इन तीनोंके ही जन्म बड़े शुभ मुहूर्तोंमें हुए, पर हर्षका तो पूछना ही क्या है। बाणके अनुसार ज्योतिषियोंने बतलाया कि मान्धाताके पीछे हर्ष-जन्मके ही समय चक्रवर्ति-जन्म सूचक समस्त ज्योतिश्चिन्ह एकत्र हुए थे।

इन लड़कोंके कुछ बड़े होने पर इनके मामाने अपने अष्ट वर्षीय पुत्र भण्डिको इनके साथ रहनेके लिये भेज दिया। भण्डिको राजा पुत्र-समान मानते थे और वह भी दोनों भाइयोंसे बड़ा स्नेह रखता था। कुछ काल पीछे मालव-नरेशके दो लड़के कुमारगुप्त और माधवगुप्त भी इनके साथ रहनेके लिये नियत किये गये।

लड़कपनमें इनको किसने और क्या शिक्षा दी, इसका कुछ पता नहीं चलता, परन्तु हर्षने आगे चल कर जिस विद्वत्ता और गुणग्राह-

कताका परिचय दिया उससे प्रतीत होता है कि उनकी शिक्षाका प्रबन्ध निःसन्देह अच्छा रहा होगा। बाणने और कुछ ब्योरा न देकर कुमारोंके सद्गुणोंको सविस्तर गिना दिया है और अन्तमें लिखा है—"स्वल्पीयसैव कालेन द्वीपान्तरेष्वपि प्रकाशतां जग्मतुः" (थोड़े ही कालमें द्वीपान्तरोंमें भी प्रसिद्ध हो गये)।

राज्यश्रीकी शिक्षा-प्राप्तिका भी कोई विशेष वर्णन नहीं मिलता, पर आगे चल कर वह भी बड़ी विदुषी निकलीं, इससे प्रतीत होता है कि उनको भी बड़ी उत्तम शिक्षा दी गई होगी। प्राप्त-यौवना होने पर कई नरेशोंने इनसे विवाह करनेकी इच्छा प्रकट की; क्योंकि इनमें विद्या, विनय, शील और सौन्दर्य्य सभी सद्गुण थे। अन्तमें मौखरी वंशके राजा अवन्तिवर्म्माके पुत्र ग्रहवर्म्माने इनका पाणिग्रहण किया।

बाणने मौखरी वंशको सकलभुवन-नमस्कृत लिखा है। सम्भव है इस वंशकी उस समय ऐसी ही प्रतिष्ठा रही हो। यदि ऐसा न होता तो राज्यश्रीका किसी अन्य कुलमें विवाह होता। पर कुलके सिवाय इनके पास और सम्पत्ति प्रायः न थी। इनका राज्य गुप्त साम्राज्यका एक टुकड़ा था। जिस समय यह वैवाहिक सम्बन्ध हुआ उस समय मौखरियोंकी राजधानी कन्नौजमें थी।

हर्षके जीवनके उस अंशके, जब वह राजनीतिमें विशेष भाग नहीं ले रहे थे, इससे अधिक वृत्तान्त नहीं मिलते।

चतुर्थ अध्याय।

राज्यप्राप्ति।

सं० ६६१ वि० में राजाने राज्यवर्धनको सेना लेकर पश्चिमोत्तर सीमावर्ती हूणोंसे लड़नेके लिये भेजा। यह तो पर्वतोंमें हूणोंके पीछे घुसे, इनके पीछे पीछे सवारोंके साथ हर्ष जा रहे थे। दोनों कुमारोंके पड़ावोंमें पर्य्याप्त अन्तर था, क्योंकि हर्ष तद्देशीय प्रकृतिच्छटाको देखते और मृगया आदिका सुख अनुभव करते धीरे धीरे जा रहे थे।

एक रात उन्होंने यह स्वप्न देखा कि एक सिंह दावानलमें जल रहा है और सिंहिनी उसके प्रेम-वश होकर बच्चोंको छोड़ कर आगमें कूद रही है। दूसरे ही दिन इस दुःस्वप्नका प्रत्यक्ष फल मिला। घरसे पिताके अत्यन्त रुग्ण होनेका समाचार आया। दूतने कहा कि तीव्र दाहज्वर हो रहा है।

हर्षने सेना तो वहीं छोड़ी और स्वयं घरकी ओर लौट पड़े। नगरमें प्रवेश करते ही एक और दुःशकुन हुआ। एक मनुष्य यमका चित्र लिये घूम रहा था और यह श्लोक पढ़ रहा था।

मातापितृसहस्राणि, पुत्रदारशतानि च।
युगे युगे व्यतीतानि, कस्य ते कस्य वा भवान्॥

इन दुःशकुनोंसे हर्षका माथा ठनक रहा था। घर गये तो पिताको बेहोश पाया। सुषेण* नामक वैद्यकी चिकित्सा हो रही थी।

युग युगमें सहस्रों माता-पिता, पुत्र-स्त्री हो चुके हैं। वे किसके हैं और आप किसके हैं अर्थात् किसीका किसीके साथ चिर सम्बन्ध नहीं है।

* ऐसा प्रतीत होता है कि पहले सुषेण अन्धे वैद्योंकी उपाधि होती थी।

लोगोंको आशा थी कि राजा दो चार दिनमें अच्छे हो जायँगे, कमसे कम कुमारको यही समझाया गया। पर यह आशा निर्मूल निकली। रोग बढ़ता ही गया और अन्तमें सबको प्रकट हो गया कि राजा बच नहीं सकते।

अभी तक तो रानी यशोवती पतिकी सेवा करनेमें तत्पर थीं। अब जब पतिका मरण निश्चय हो गया तो उन्होंने पतिसे पहले ही प्राण-त्याग करना निश्चय समझा। हर्षादिने बहुत समझाया, पर उन्होंने एक न माना और चिता पर बैठ कर वे जल गईं। सम्भव है आजकल हम इसको मूर्खता या पाप समझें, पर ऐसा कौन होगा जो ऐसी पतिप्राणा सती देवियोंको अनन्य प्रेमकी मूर्ति मान कर श्रद्धा-पूर्वक सिर न झुकावे।

राजा मरणासन्न तो हो ही रहे थे, उनको इसकी और भी चोट लगी। " उन्होंने हर्षको धीमे धीमे स्वरसे कुछ नीतिकी शिक्षा दी। अन्तमें "निरवशेषतां शत्रवो नेयाः" (शत्रुओंको निरवशेष—पूर्णतया—नाश कर देना चाहिए) कह कर वह धर्म्मराजकी गोदमें सो गये।

हर्षका स्वप्न अक्षरशः सत्य निकला। पिताकी दाहज्वरसे मृत्यु हुई, माता स्वयं पति-वियोगको असह्य मान कर अग्निमें प्रवेश कर गईं। एक तो हर्ष स्वयं किशोरवयस्क, दूसरे इतने बड़े दो दो शोकस्थान, तीसरे बड़े भाई भी घर पर उपस्थित नहीं, अतः उनका अत्यन्त कातर हो जाना स्वाभाविक ही था।

परन्तु चाहे किसीको कितना ही हर्ष, शोक क्यों न हो, संसारका कोई काम रुकता नहीं। हर्षको शोकादि संवरण करके पिताकी प्रेत-क्रिया करनी पड़ी और जब तक राज्यवर्धन आ जायँ राज्यका प्रबन्ध भी देखना ही पड़ा।

शीघ्र ही राज्यवर्धन भी आ पहुँचे। पता नहीं किस आधार पर विंसेण्ट स्मिथ लिखते हैं कि कुछ लोग हर्षको राजा बनाना चाहते थे, पर राज्यवर्धनके जल्द आ जानेसे इनकी चाल सफल न हुई। जहाँ तक प्रमाण मिलता है दोनों भाइयोंमें गाढ़ स्नेह था, अतः हर्ष स्वयं राज्य लेना स्वीकार न करते। फिर राज्यवर्धन किसी प्रकार अयोग्य न थे कि वह या उनके अनुयायी उनकी राजच्युति चुपके चुपके सह लेते। ऐसी दशामें व्यर्थ लड़ाई बढ़ानेसे किसीको क्या मिलता। पितृमरणके पीछे भाइयोंमें तलवार चलनेकी प्रथा तो मुसलमानी शासनकालमें प्रचलित हुई।

लौटने पर पितृशोक-विह्वल राज्यवर्धनने राज्य लेना स्वीकार न किया। वह हर्षको सिंहासनासीन करके स्वयं वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश किया चाहते थे। उन्होंने अपना शस्त्र तक दूर कर दिया। पर हर्षने और अन्य मंत्रियोंने उन्हें बहुत समझाया। कई दिनों तक यह वादविवाद चलता रहा। इतनेमें एक ऐसा समाचार आया जिसने राज्यवर्धनके सभी विचारोंको पलट कर उनको राज्यधुरा-ग्रहण पर विवश किया।

हम पहले ही कह चुके हैं कि प्रभाकरवर्धनने मालव देशको जीत लिया था। उनके जीते-जी तो मालव-नरेश कुछ कर न सका, पर ज्यों ही उनकी मृत्युका समाचार फैला वह स्वतंत्र हो गया। उसने समझा होगा कि जैसा और राज्योंमें होता था प्रभाकरवर्धनकी मृत्यु होने पर उनका भी साम्राज्य छिन्न भिन्न हो जायगा। यह समझ-बूझ कर वह खुल खेला। पहले उसने कन्नौज पर चढ़ाई की। मौखरी विशेष बलशाली तो थे ही नहीं, उसकी शीघ्र ही विजय हुई। हर्षके

बहनोई ग्रहवर्म्मा मार डाले गये और उनकी बहिन राज्यश्री कारागारमें डाल दी गई ।

इसी समाचारने राज्यवर्धनको उत्तेजित किया। उन्होंने स्वयं कहा—"इदमेव तावद्वल्कलग्रहणमिदमेव तपः शोकापगमोपायश्चायमेव यदत्यन्ताविनीतारिनिग्रहः" (अत्यन्त अविनीत शत्रुका निग्रह ही वल्कल ग्रहण है, यही तप है, यही शोक दूर करनेका उपाय है)।

उन्होंने हर्षको तो घर छोड़ा और आप मालव-नरेशको दण्ड देने चले। हर्षने साथ चलनेके लिये आग्रह किया, पर उन्होंने यह कह कर रोक दिया कि हरिणको मारनेके लिये सिंहोंके झुण्डकी आवश्यकता नहीं होती ।

राज्यवर्धनके साथ १०,००० सवार थे। उन्होंने इतनी ही सेनासे मालवेशको परास्त किया, पर विजयका पूर्ण सुख भोगना उनके भाग्यमें न था। गौड़-नरेश शशाङ्कने, जो मालवेशका मित्र था, इनको अपनी मीठी मीठी बातोंमें भुला कर अपने ऊपर विश्वास उत्पन्न करा लिया। फिर अवसर पाकर इनको धोखेसे मार डाला ।

इस बीचमें राज्यश्री कारावाससे छूट गई थीं, पर भाईके पास न जाकर विन्ध्याचलकी ओर न जाने कहाँ चली गईं ।

विपत्तियोंका यह साधारण स्वभाव है, जब वे आने लगती हैं तो एक अविच्छिन्न धारा बना लेती हैं। हर्षका हृदय घबरा उठा। शोक, ईर्षनैराश्य, क्रोधने उसे घेर लिया। इसी समय इनके पिताका पुराना सेनापति सिंहनाद वहाँ आया। उसने इनके विषण्ण चित्तको दुःखकी ओरसे हटा कर भ्रातृद्रोही गौड़ाधिपको दण्ड देनेकी ओर फेरा। क्रोध तो इनको आ ही रहा था, वृद्ध सेनानीके वाक्योंसे और भी

भड़क उठा और इन्होंने यह आवेशपूर्ण प्रतिज्ञा की—"यदि परिगणितैरेव वासरैर्निर्गौडां न करोमि मेदिनीं ततः पीतसर्पिषि पतङ्ग इव पातयाम्यात्मानम्" (यदि थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीको गौड़हीन न करूँ तो अग्निमें कूद पड़ूँगा)।

यह तो हुआ, पर अभी स्थाण्वीश्वरका सिंहासन रिक्त था। किसीका राजा बनाया जाना आवश्यक था। राज्यवर्धन कोई बड़े वयका लड़का नहीं छोड़ गये थे और ऐसे समयमें जब कि प्रबल शत्रु इतने उपद्रव मचा रहे थे, यह आवश्यक था कि राजकी डोर किसी अनुभवी और सुदृढ़ व्यक्तिके हाथमें हो। अतः भण्डीके परामर्शको मान कर मंत्रियोंने हर्षसे राजा बननेकी प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने यह बात अस्वीकार की। परन्तु जब मंत्रियोंने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने यह दायित्वपूर्ण पद अङ्गीकार किया। फिर भी पहले पहल उन्होंने महाराजकी उपाधि ग्रहण न की, वरन् वे कुमार शीलादित्य कहे जाते थे। इसी साल (सं० ६६३ वि०) से हर्षने एक नया संवत चलाया। कहा जाता है कि इसके लगभग ६ या ७ वर्ष पीछे हर्षने पूरी पूरी राजकीय उपाधि धारण की।

इस बातको लेकर स्मिथने एक विचित्र कल्पना की है। यह तो वह पहलेहीसे मान बैठे हैं कि राज्यमें दो दल थे, जिनमेंसे एक प्रभाकरवर्धनके मरते ही हर्षको राजा बनाना चाहता था। उस समय तो राज्यवर्धनकी फुर्तीसे उसकी कुछ चली नहीं, अब उनके मरने पर उसने किसी प्रकार षड्यंत्र रच कर हर्षको राजा बना दिया, जिससे राज्यवर्धनकी सन्ततिका स्वत्व मारा गया। फिर भी दूसरे, अर्थात् राज्यवर्धनके पक्षवाले, दलका प्रभाव एक मात्र चला नहीं गया था।

मंत्रि-मण्डलकी सम्मति होने पर भी कुछ न कुछ रुकावटें थीं, जिनके कारण हर्ष अपनेको यकायक राजा न कह सके। इसी लिये वह ६ वर्ष तक चुपचाप बैठे रहे और सुयोगकी प्रतीक्षा करते रहे। जब उन्होंने अपनेको पूर्णतया बलवान् पाया तब खुल कर राजाकी उपाधि ग्रहण की।

स्मिथ इतिहासके बहुत बड़े ज्ञाता थे, परन्तु हम उनकी इस कल्पनासे सहमत नहीं हो सकते। हैवेलने भी इससे अस्वास्थ्य दिखलाया है। इसके लिये कोई प्रमाण नहीं, उलटा इसके स्वीकार करनेमें व्यर्थता प्रतीत होती है। मुसलमानी समयमें ऐसा हो सकता था, पर प्रायः हिन्दू कालमें ऐसा नहीं हुआ है।

हर्षके चुनावमें दलबन्दी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। नीतिशास्त्र बार बार पुकार कर कहता है कि एक राजाके मरने पर, यदि उसका बेटा अयोग्य हो तो, मंत्रिगण प्रजाके हितको सोच कर राजकुलके किसी अन्य व्यक्तिको राजा बना सकते हैं। राज राजाकी सम्पत्ति नहीं है। वह प्रजाकी सम्पत्ति है और मंत्रियोंको प्रजाके हिताहितको सदा ध्यानमें रखना चाहिए। इसी प्रथाके अनुसार पण्डुको हटा कर धृतराष्ट्रको राज्य दिया गया था।

राजाको हिन्दू नीतिकारोंने कभी राज्यका स्वामी या अनियंत्र्य शासक नहीं माना। मरनेकी तो बात ही और है, राजाके जीवनमें भी उसे मंत्रियोंके परामर्शसे काम करना पड़ता था। ह्वेन त्सांगने एक अपने समयकी घटनाका उल्लेख किया है जो इस सिद्धान्तका समर्थन करती है। श्रावस्तीके राजा विक्रमादित्य बड़े दानी थे। उन्होंने धीरे धीरे प्रायः सारा कोष रिक्त कर दिया। कोषाध्यक्षको बड़ी

चिन्ता हुई। अन्तमें उन्होंने राजाको समझानेकी एक सूक्ष्म रीति सोच निकाली। एक बार राजाने आज्ञा दी कि ५ लाख निष्क (अशर्फ़ी) बाँट दिये जायँ। कोषाध्यक्षने १० लाख बँटे जानेकी प्रार्थना की। राजाने पूछा—"यह क्यों?" कोषाध्यक्षने उत्तर दिया "१० लाख बाँटनेसे कोषमें एक कौड़ी न रह जायगी। विवश होकर प्रजा पर नये कर लगाने पड़ेंगे। आपकी तो दानशीलताके लिये ख्याति होगी, और प्रजा नये करोंके लिये हम मंत्रियोंको गालियाँ देगी।" राजाने इस साङ्केतिक शिक्षासे काम न लिया, पर हाँ शेष ५ लाख भी बँटवा दिया। परिणाम यह हुआ कि मंत्रियोंने ऐसे राजाको अयोग्य समझ कर पदच्युत कर दिया और दूसरा राजा बनाया।

तात्पर्य्य यह है कि हर्षको राजा चुननेमें मंत्रियोंने अपने अधिकारके बाहर कोई बात नहीं की, जिससे किसी प्रकारके षड्यंत्रकी कल्पना की जाय। हर्षका तत्काल ही राजाकी उपाधि धारण न करना भी सहजमें ही समझा जा सकता है। जो मनुष्य इतनी कड़ी प्रतिज्ञा कर चुका है, जिसके आगे इतने बड़े बड़े काम पड़े हों, वह स्वभावतः पहले कार्य्यसिद्धिकी ओर झुकेगा—अभिषेकादि उपचार तो पीछे भी हो सकते हैं।

अस्तु, उस समय हर्षके सामने दो काम थे, एक तो शशाङ्कको दण्ड देना, दूसरा राज्यश्रीको ढूँढ़ना। इनमें दूसरा कार्य्य ही अधिक महत्त्वका था। अतः जितना शीघ्र हो सका हर्ष इसी काममें लगे। कुछ ठीक पता तो था ही नहीं, परन्तु भाग्यवशात् उनको विन्ध्यनिवासी जङ्गली जातियोंके सामन्त शरभकेतुके पुत्र व्याघ्रकेतुसे बड़ी सहायता मिली। व्याघ्रकेतुने उनसे शबर जातिके अध्यक्ष भूकम्पके

पुत्र निर्घात*की, जो वनके पत्ते पत्तेको पहिचानता था, भेंट कराई। यों ही सूत्र मिलता गया, अन्तमें राज्यश्रीसे भेंट हो गई।

राज्यश्री वैधव्यसे दुःखित तो थीं ही, वन वन भटकते भटकते जीवनसे भी विरक्त हो गई थीं। जिस समय हर्षादिका उनका साक्षात्कार हुआ उस समय वह अपनी कुछ प्रिय सखियोंके साथ जल कर प्राणत्याग करनेका प्रबन्ध कर रही थीं। अब वह बात न हो सकी तब उन्होंने भाईसे संन्यास ग्रहण करनेकी आज्ञा माँगी। हर्षने कहा कि अभी ठहर जाओ। मैंने शशाङ्कको दण्ड देनेकी प्रतिज्ञा की है। उसे पूरी करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा। उस समय मैं भी काषाय ग्रहण करूँगा और तुम भी मेरे साथ ही काषाय ग्रहण करना।

उस समय हर्षके साथ एक साधु भी थे। उनके तथा अन्य लोगोंके अनुरोधसे राज्यश्रीने इस प्रस्तावको स्वीकार किया।

* मेरी समझमें शरभकेतु, व्याघ्रकेतु, भूकम्प, निर्घात आदि कवि-कल्पित नाम हैं। जङ्गलियोंके ऐसे नाम नहीं हो सकते। हाँ यह हो सकता है कि यह नाम उनके वास्तविक नामोंके संस्कृत अनुवाद हों।

पञ्चम अध्याय ।

दिग्विजय ।

राज्यश्रीको सकुशल घर पहुँचा कर हर्षको अपने दूसरे लक्ष्यके लिये अवकाश मिला। अब वह शशाङ्कको दण्ड देनेके लिये सज्जित होने लगे, परन्तु उनके उदाराशय हृदयको भरनेके लिये इतनीसी बात पर्य्याप्त न थी। शशाङ्कको परास्त करना कोई बड़ी बात न थी, पर जो सेना यह काम कर सकती थी उससे और भी काम लिया जा सकता था।

यह काम था दिग्विजय, अर्थात् समस्त भारत पर एकच्छत्र राज स्थापित करना। एक तो हर्ष उत्साही, वीर, बुद्धिमान, नीतिकुशल और महत्त्वाकांक्षी थे—इन गुणोंका वह परिचय दे ही चुके थे। ऐसे व्यक्तिके लिये, बाणके शब्दोंमें:—

अङ्गनवेदी वसुधा कुल्याजलधिः स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

(कृत-प्रतिज्ञ वीरके लिये पृथ्वी घरका आँगन, समुद्र छोटीसी नदी, पाताल स्थल और सुमेरु वल्मीकके जैसा जान पड़ता है)।

फिर बचपनसे ही उनके कानोंमें यह बात पड़ती आती थी कि मान्धाता आदिके समान उनके भी चक्रवर्ति-सूचक लक्षण थे। इससे भी उनको ऐसा उत्साह होना स्वाभाविक था। देशकी अनिश्चित दशा, छोटे छोटे राज्योंके परस्पर बैर-विरोध, यह बातें उनके विचारके लिए और भी पुष्टिकर थीं।

दिग्विजय भारतीय नरेशोंका एक प्राचीन व्यसन था। अँगरज़ोंकी धारणा है कि पुराने भारतीयोंको 'भारतकी भावना ही न थी। वह छोटे छोटे टुकड़ोंको ही अपना अपना स्वदेश समझते थे।' यह भूल है। गङ्गादि सात पवित्र नदी, हिमादि सात पवित्र पर्वत, अयोध्यादि सात पवित्र पुरी, रामेश्वरादि चार धाम, यह सब किसी एक प्रान्तमें नहीं प्रत्युत सारे देशमें बिखरे हुए हैं। जो जाति इन सबका आदर करती थी उसकी दृष्टि एक देशीय कदापि नहीं हो सकती। उसकी आँखोंके सामने सदैव समस्त भारतका दृश्य रहता होगा। हाँ, तबका भारत कुछ और बड़ा था, क्योंकि उसमें लगभग आधा अफ़गानिस्तान और सारा नैपाल सम्मिलित था। इसमें सन्देह नहीं कि पीछेसे लोगोंकी दृष्टि सकुंचित हो गई और अँगरेज़ी सभ्यताके प्रकाशमें फिर खुली। पर इसके कई कारण हैं। उन पर तर्क करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।

ऐसी दशामें भारतमें एकच्छत्र राज्य स्थापित करनेकी अभिलाषा भारतीय नरेशोंके लिये स्वाभाविक थी। प्राचीनतम कालसे लेकर सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दि तक बहुतसे दिग्विजयी सम्राट् हुए हैं। इन्हींको चक्रवर्ती कहते थे। यह ठीक है कि इनमेंसे किसीका भी साम्राज्य चिरस्थायी नहीं रहा, पर इसके कई कारण थे। जो कुछ हो नरेशोंका लक्ष्य सदैव यही रहा—इतना ही नहीं ऐसे स्यात् ही कोई भारतीय नरेश रहे होंगे जो किसी विशेष अवस्थाको छोड़ कर भारतके बाहर राज्य-विस्तारके अभिलाषी रहे हों।

हमारे यहाँ चक्रवर्ती दो प्रकारके हुए हैं, एक तो श्रीरामचन्द्रजी, भरत, मान्धाता, युधिष्ठिर आदिके समान; दूसरे, चन्द्रगुप्त, अशोक, समुद्रगुप्तके समान। हर्षने इस द्वितीय वर्गको ही अपना आदर्श माना था।

प्रथम वर्गके चक्रवर्ती जिन प्रदेशोंको जीतते थे उनके नरेशोंको प्रायः कर लेकर छोड़ देते थे। स्वयं सम्राट्का शासन अपने थोड़ेसे पैतृक राज्य पर होता था। जब कभी आवश्यकता पड़ती थी तो शेष नरेश जो उनके अधीन होते थे, यथाशक्य कुमक लेकर आते थे। इसीका यह परिणाम था कि महाभारतमें इतने नरेशोंके नाम गिनाये जा सके जिनमेंसे कई बल-वैभवमें दुर्योधन या युधिष्ठिरके तुल्यप्राय थे।

जब तक आर्य्योंका प्राधान्य था तब तक तो यह नीति ठीक ठीक काम दे गई। पर जिस समय यवन (यूनानी-ग्रीक), शक, हूण आदि विदेशियोंसे सामना करना पड़ा उस समय यह कच्ची प्रतीत हुई। उस समय इस बातकी आवश्यकता थी कि शासन केन्द्रीभूत हो अर्थात् एक जगह हो और एक व्यक्ति देशके सारे धन और बलसे यथावश्यकता काम ले सके। बहुतसे भिन्न भिन्न राजा होनेसे किसी किसीके अनार्य्य शत्रुओंसे मिल जाने या देशमें छोटे मोटे विद्रोह खड़ा कर देनेकी सम्भावना थी; यदि ऐसा न भी हुआ तो भी भिन्न भिन्न नरेशोंसे कुमक मिलना, इन सबका एकमें सङ्गठित करना और फिर इनसे उपयोगी काम लेना, यह सब सुगम और शीघ्र-सुसम्पाद्य काम न था और इन विदेशी लुटेरोंके साथ शीघ्रताकी ही आवश्यकता थी।

इसी लिये चन्द्रगुप्तादिने दूसरी नीति निकाली। दो चार दस छोटे बड़े स्थानीय राजा उन्होंने भी इधर उधर छोड़ दिये, पर साम्राज्यके अधिकांश भाग पर वे स्वयं शासन करते थे। जो प्रान्त जीतते उसे अपने राज्यमें मिला लेते थे और अपने क्षत्रपों और प्रतिनिधियों द्वारा उसका प्रबन्ध करते थे। स्थानीय और ग्राम्य-प्रबन्ध भले ही ज्योंका त्यों होता रहे, पर न्याय, पुलिस, सेना आदि बड़े बड़े विभाग स्वयं

सम्राट्के नियुक्त किये हुए अधिकारियोंके हाथमें थे। ग्राम्य-शासन पर भी सरकारी कर्म्मचारी देख-भाल रखते थे। इससे होता यह था कि देशके सारे शासन और शक्तिकी डोर एक हाथमें रहती थी।

इसी नीतिका यह फल था कि चन्द्रगुप्तने यवनोंसे उनका भारतीय प्रदेश छीन लिया, अशोकने बैक्ट्रियन राज्यको भारतमें घुसने न दिया, समुद्रगुप्तने शकोंका बल तोड़ दिया और हर्षने खुले हुए पश्चिमोत्तरीय द्वारको फिरसे बन्द कर दिया। इसी नीति, या यों कहिये कि इस नीतिके माननेवाले नरेशके अभावसे सिकन्दर भारतमें घुस आया, मुसलमान पृथ्वीराजको परास्त कर सके और अँगरेज़ोंको राज्य-स्थापनका अवसर मिला।

हर्षकी दिग्विजय यात्राका विशेष ब्योरा नहीं मिलता। परन्तु हर्षकी अन्तिम लड़ाई सं० ७०० वि० में हुई। इस गणनासे उनको लड़ने भिड़नेमें लगभग ३६ वर्ष (६६४ से ७००) लगे। उनका पहला झगड़ा शशाङ्कसे था। यह राजा जैसा दुष्ट था वैसा ही चतुर और बलवान् भी था। लगभग १२ वर्ष तक कुछ न कुछ उत्पात करता ही गया, पर अन्तमें उसका राज्य हर्षके राज्यमें मिल गया। इस समय हर्षके पास ५००० हाथी, २०,००० सवार और ५०,००० पैदलोंकी सेना थी। बढ़ते बढ़ते हाथियोंकी संख्या ६०,००० और सवारोंकी १००,००० तक पहुँची। हर्ष अपनी सेनामें रथोंसे काम नहीं लेते थे। क्योंकि सेनाके और अङ्गोंकी भाँति रथ वेगगामी नहीं होते।

हम कह चुके हैं कि हर्षको लड़ने भिड़नेमें ३६ वर्ष लगे। इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि वह इतने दिनों तक निरन्तर लड़ते ही रहे।

वस्तुतः प्रधान प्रधान युद्ध तो जल्द ही समाप्त हो गये। ३६ वर्ष तो आदि और अन्तिम युद्धोंके बीचका समय है।

सं० ६७७ तक पूर्वीय पञ्जाब और बङ्गालका अधिकांश विजय हो चुका था। बङ्गालकी खाड़ीके पासका प्रदेश सं० ७०० में जीता गया। सम्भवतः उसी समय कामरूप (आसाम)के प्रबल नरेशने हर्षका आधिपत्य स्वीकार किया होगा।

लगभग सं० ६९४ में वल्लभी जीता गया। वल्लभी-नरेश द्वितीय ध्रुवसेन पहले तो भरोचके राजाके पास आश्रयके लिये गये, पर इससे काम न चला। उनको और भरोच-नरेश दोनोंको हर्षका आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। पीछेसे हर्षने अपनी लड़कीका उनसे विवाह कर दिया। प्रायः इसी समय आनन्दपुर, कच्छ और सुरथ भी जीते गये।

यह तो सब विजयकी कहानी हुई। एक पराजय भी देखना पड़ा। हर्ष चाहते थे कि दक्षिणमें भी साम्राज्य फैलाएँ, पर उन दिनों दक्षिणमें चालुक्यों पर राजलक्ष्मीकी कृपा थी और उनका राजा द्वितीय पुलकेशी प्रताप, वीरता, बल, उत्साह आदिमें हर्षसे कम न था। वह दक्षिणमें उसी प्रकार सम्राट् हो गया था जिस प्रकार हर्ष उत्तरमें। अतः हर्षका दक्षिणमें राज्य स्थापन करना उसके लिये असह्य था, लगभग ६७७ में दोनों वीरोंकी मुठभेड़ हुई, परिणाम यह हुआ कि हर्षको अपना विचार दूर करना पड़ा और नर्म्मदा नदी उनके राज्यकी दक्षिणी सीमा हो गई।

साथके नक्शेसे हर्षके साम्राज्यके विस्तारका अनुमान हो जायगा। यह स्मरण रखना चाहिए कि उत्तर भारतके जो प्रान्त साम्राज्यके बाहर थे वे भी इतने बड़े नरेशके प्रभाव-क्षेत्रके बाहर नहीं थे।

राजपूताना हर्षके राज्यके समीप ही था, पर वह उस समय प्रायः उजाड़ सा था, स्यात् इसी लिये हर्षने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया।

इसमें सन्देह नहीं कि यह साम्राज्य अशोकके साम्राज्यसे कहीं छोटा था। इसका एक कारण तो यही था कि चालुक्य राजने दक्षिणमें हर्षकी गति रोक दी। ऐसी अवस्थामें मान्धाता, भन्ड आदिसे उनकी तुलना करना जैसा कि बाणने किया है, केवल अत्युक्ति मात्र है। पर इसमें सन्देह नहीं कि उस समयके लिये यह बहुत बड़ा राज्य था और बुझती हुई भारतीय चक्रवर्ति-परम्परा प्रभाका अच्छा उदाहरण दिखला गया।

षष्ठ अध्याय ।

राज्यका प्रबन्ध ।

राज्यका विस्तार बढ़ जाने पर हर्षने अपनी राजधानी स्थाण्वीश्वरसे हटा कर कन्नौजमें स्थापित की। यह नगर पहलेकी अपेक्षा अधिक बड़ा और मध्यवर्ती था ।

राज्यके प्रबन्धका बाह्य रूप तो वही होगा जो नीतिकारोंने बतलाया है। जैसा कि कई विद्वानोंका मत है—'शुक्रनीति' सबसे पीछे बनी है; क्योंकि उसमें बन्दूक आदिका भी वर्णन आता है। यदि यह अंश प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तब भी सम्भवतः यह पुस्तक औरोंसे नई है और हर्षादि पीछेके नरेशोंके व्यवहारके आधार पर ही बनी है।

हिन्दुओंमें राज्यके सात अङ्ग माने गये हैं:—

स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं, कोशं दण्डस्तथैव च ।
मित्राण्येताः प्रकृतयो, राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते ॥

(अर्थात् राज्यको सप्ताङ्ग कहते हैं। उसकी सात प्रकृतियाँ यह हैं; स्वामी, अमात्य या मंत्रिगण, प्रजा, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र)।

मंत्रियोंका अधिकार बहुत बढ़ा चढ़ा था ।

सर्वविद्यासु कुशलो, नृपो ह्यपि सुमंत्रवित् ।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं, नैकोर्थं चिन्तयेत् क्वचित ॥
सभ्याधिकारिप्रकृति, सभासत्सु मते स्थितः ।
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः, स्वमते न कदाचन ॥

प्रभुः स्वातंत्र्यमापन्नो, ह्यनर्थायैव कल्प्यते ।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो, भिन्नप्रकृतिरेव च ॥

(विद्वान् राजाको भी बिना मंत्रियोंसे परामर्श लिये कोई काम नहीं करना चाहिए। राजाको केवल अपने मतके अनुसार न वर्तना चाहिए। जो राजा स्वतंत्र होकर काम करता है वह अनर्थ करता है। प्रकृतिवर्ग और प्रजा दोनों उसे त्याग देंगे)।

अतः मंत्रियोंको बहुत कुछ अधिकार रहा होगा। पर यह निश्चय है कि जो राजा स्वयं विद्वान् और बुद्धिमान् होगा वह मंत्रियों पर भी बहुत प्रभाव डाल सकेगा।

ग्राम्य-शासनका अगले अध्यायमें वर्णन होगा। यहाँ शासन-सम्बन्धी दो चार स्थूल बातें लिखी जा सकती हैं; क्योंकि अधिक ब्योरेसे लिखनेकी सामग्री नहीं है, केवल स्मृतियों और नीतिशास्त्रोंके वाक्य उद्धृत करने होंगे। शेषके लिये ह्वेनथ्साङ्गने अपनी यात्राके सम्बन्धमें जो लिखा है उससे सामग्री मिलती है।

प्रजासे कर बहुत हल्का लिया जाता था। राजकी प्रधान आय भूमिकी मालगुज़ारीसे थी। कृषकोंको अपने लाभका छठा हिस्सा राजको देना पड़ता था। इस प्रकार जो रुपया कोषमें आता था उसके चार प्रधान टुकड़े होते थे। एक भाग तो कर्मचारियोंके वेतनमें जाता था (वस्तुतः वेतनके स्थानमें भूमि मिलती थी), एक भाग विद्वानोंके समादरके लिये पृथक् कर दिया जाता था, एक भाग धर्मार्थ व्यय होता था और शेष एक भागमें राजके और व्यय होते थे। यदि आवश्यकता वशात् बेगार ली जाती थी तो उसके लिये पूरा वेतन मिलता था।

पुलिसका भी प्रबन्ध प्रायः अच्छा था। खून, डाका आदि अपराध कम होते थे। पर उससे दो सौ वर्ष पहले जो शान्ति फ़ा-हिएन देख गये थे वह अब नहीं थी। बीचमें हूणोंका आक्रमण हो चुका था और गुप्त साम्राज्यके छिन्न हो जानेसे कई स्थानोंमें शासनका क्रम विगड़ गया था। इस लिये सड़कोंकी दशा उतनी सुरक्षित न थी। एक बार ह्युएनको कुछ लुटेरोंने पकड़ कर दुर्गाको बलि देनी चाही। इन्होंने उनसे थोड़ासा अवकाश माँगा और ध्यान लगा कर बैठ गये। मन ही मन यह बुद्धदेवसे प्रार्थना करने लगे कि यह लुटेरे किसी प्रकार सन्मार्गगामी हो जायँ। इतनेहीमें आँधी चली। लुटेरे डर गये और समझे कि इन्होंने कोई जादू किया। बस वह इनके पाँव पर गिर पड़े और प्रतिज्ञा की कि अब डाका न डालेंगे।

इसी लिये दण्ड भी पहलेसे कड़े थे। छोटे अपराधोंके लिये तो जुर्माना होता था, पर बड़े अपराधोंके लिये नाक, कान, हाथ, पाँव, काटनेकी प्रथा थी। कभी कभी देशनिकाला भी होता था। पिताकी आज्ञा उल्लङ्घन करने पर भी ऐसे ही कड़े कड़े दण्ड मिलते थे। सच झूठका निर्णय करनेके लिये अभियुक्तोंको पानीमें डालना, विष देना या आगस्पर्श कराना ठीक समझा जाता था—यदि वह बच गया तो सच्चा है, नहीं तो झूठा। यह दण्ड हैं तो असभ्य पर इन्हींके प्रसादसे शान्ति रक्खी भी जा सकती थी। कमसे कम यह तो निश्चय है कि जिस उद्देश्यसे इनकी आयोजना हुई थी वह सिद्ध हो गया था, क्योंकि ह्युएनने इनकी प्रशंसा की है।

प्रत्येक प्रान्तमें एक प्रकारके कर्म्मचारी होते थे जो वहाँ होनेवाली अच्छी बुरी सभी प्रकारकी घटनाओंको लिख लिया करते थे।

इतने बड़े राज्यके प्रबन्धका काम कुछ सहज न था। हर्ष इसको स्वयं देखते थे। वर्षाऋतु छोड़ कर वह बराबर दौरा किया करते थे। इस प्रकार राज्यके सभी प्रान्तोंके निवासियोंको उनसे साक्षात्कार करने और सुख-दुःख निवेदन करनेका अवसर मिल जाता था। एकाधिपत्यका यह मूलमंत्र है कि राजा और प्रजाके बीचमें ऐसे पर्दे न हों कि प्रजा राजासे समय समय पर खुल कर मिल न सके। अपने दौरोंके द्वारा हर्ष अपने राज्यकी नींवको बराबर दृढ़ करते जाते थे।

सप्तम अध्याय ।

ग्राम्य-शासन ।

हर्षके राज्यमें ग्राम्य-शासन किस प्रकार होता था यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उस समयके लगभग ३०० वर्ष पीछे दक्षिण भारतमें क्या प्रबन्ध था यह सप्रमाण बतलाया जा सकता है। बहुत सम्भव है कि हर्षके कालमें उत्तर भारतमें यही या इससे मिलती जुलती कोई विधि रही हो, क्योंकि सभ्यताका प्रवाह सदा उत्तरसे दक्षिणकी ओर रहा है।

यह निश्चय है कि गाँवोंके कामकी देख-भालके लिये सरकारी कर्म्मचारी होते थे, पर वह भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप नहीं करते थे। यदि किसी कर्म्मचारीकी १०० व्यक्ति शिकायत करते तो वह निकाल दिया जाता था।

गाँव गाँवमें सभा (या पंचायत) होती थी। कई गाँवोंके ऊपर एक महासभा होती थी। यदि किसी महासभाके अधीन गाँवोंमेंसे किसी गाँवकी सभा अपने काममें त्रुटि करती थी तो महासभा उसे दण्ड देती थी। महासभाको प्राणदण्ड देने तकका अधिकार था। प्रत्येक महासभाके सदस्य कई टुकड़ोंमें विभक्त रहते थे। प्रायः ६ विभाग होते थे—जल (यह विभाग नहर, कुआँ आदिका निरीक्षण

करता था), उद्यान (सरकारी और पंचायती बाग, चरनेके लिये मैदान आदिकी देख-रेख करनेवाला विभाग), मन्दिर, कोष, न्याय, और सामान्य-निरीक्षण ।

मदूरेमें एक मन्दिरकी दीवारों पर इन सभाओंके सदस्योंके चुनाःवका ब्योरा मिला है। वह बड़ा ही रोचक है ।

कई गाँवोंका एक संघ था। उसका नाम था—"उत्तरमेरुचतुर्वेदिमङ्गलम्।" उसकी महासभा ठीक रीतिसे काम नहीं कर रही थी। जनताने तत्कालीन नरेश (चोलवंशीय प्रथम परान्तक, सं० ९७५) से अपील की। उन्होंने अपना एक प्रतिनिधि भेजा। इसने जनतासे परामर्श करके निम्न लिखित प्रकारसे सदस्य चुनवाये।

इस ग्रामसंघकी महासभाके ३० सदस्य थे जो उद्यान, वार्षिक निरीक्षण, जल, सुवर्ण-निरीक्षण, सामान्य विषय और न्यायकी उपसभाओंमें विभक्त थे। कुल मिला कर १२ गाँव थे जो ३० हल्कोंमें बँटे थे। इस हिसाबसे प्रति गाँव २½ हल्के आये।

सदस्योंमें निम्न-लिखित गुणोंका होना आवश्यक और अनिवार्य्य माना गया:—

(१) सम्पत्ति—¼ वेलि (२ बीघा) ऐसी भूमि जिस पर लगान दी जाती हो। इसके साथ ही एक घर और वह घर बना हो।

(२) वय—३५ से कम और ७० से अधिक न हो।

(३) विद्या—कमसे कम मंत्र ब्राह्मण पढ़ा सकनेकी योग्यता। जो मनुष्य १ वेद और १ भाष्य जानता हो, वह ⅛ वेलिका स्वामी होनेसे भी सदस्य हो सकता था।

जो लोग ईमानदार थे और गत ३ वर्षोंमें सदस्य नहीं रहे थे वही चुने जा सकते थे। जो लोग मद्य पीते थे वह सदस्य नहीं हो सकते थे। [एक बड़ा अच्छा नियम यह था कि किसी सदस्यका सम्बन्धी महासभाका कर्म्मचारी नहीं हो सकता था। अब भी हमारे म्युनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डोंके सदस्य अपने सम्बन्धियोंको धड़ाधड़ जगहें दिलाते जाते हैं, पर तब ऐसा अन्धेर नहीं हो सकता था।]

चुनावके पहले लोग अपनी अपनी सम्मतिके अनुसार एक एक मनुष्यका नाम टिकटों पर लिखते थे। प्रत्येक हल्केके टिकट गिन गिन कर अलग अलग बाँध लिये जाते थे। फिर प्रधान मन्दिरके मण्डपमें चुनाव होता था। ऊपर पुजारी होते थे और बड़ा पुजारी अधिष्ठाता होता था। नीचे जनता खड़ी रहती थी।

मण्डपमें दो खाली घड़े रहते थे। पहले तीसों हल्कोंके तीसों बण्डल एक घड़ेमें डाल दिये गये। फिर एक लड़केसे कहा गया कि इनमेंसे एक निकाले। जो बण्डल निकला उसके हल्केका नाम पढ़ दिया गया। फिर सब टिकट बिखेर कर दूसरे घड़ेमें डाल दिये गये। लड़केने उनमेंसे एक निकाल कर प्रधान पुजारीको दिया। पुजारीका हाथ खुला और अँगुलियाँ अलग अलग होती थीं। वह टिकट लेकर नाम पढ़ देता था। फिर और पुजारी भी इस बातकी जाँच कर लेते थे कि नाम ठीक पढ़ा गया। बस यही व्यक्ति उस हल्केकी ओरसे सदस्य हुआ। इसी प्रकार तीसों हल्कोंकी ओरसे ३० सदस्य चुन लिये गये। इसमें बड़ा लाभ यह था कि पक्षपातका नाम नहीं था और प्रत्येक हल्केका एक एक प्रतिनिधि सभामें था। फिर इन तीसोंमें १२, जो पहले कभी उद्यान या जल विभागमें रह चुके हों, वार्षिक निरीक्षणके लिये नियत होते थे।

इस प्रणालीमें एक दोष यह था कि इस बातका कुछ निश्चय नहीं था कि योग्यतम मनुष्य ही चुने जायँगे—घड़ेमेंसे न जाने किसका नाम निकलेगा—पर सदस्योंके लिये ऐसी ऐसी शर्तें थीं कि कोई भी चुना जाय काममें अड़चन नहीं पड़ सकती थी।

इसकी प्रशंसामें मि० हैवेल कहते हैं:—

"No form of government, eastern or western, democratic, autocratic or bureaucratic, has yet been devised which cannot be, and is not made an instrument of oppression, but the common belief of Europe that Indian monarchy was always an irresponsible and arbitrary despotism is, so far as concerns the pre-Muhamedan period, only one of the many false conceptions of Indian history held by Europeans. Neither ancient nor modern European History can show a system of local self-government more scientifically planned, nor one which provides more effective safe-guards against almses than that which was worked out by Aryan philosophers as the social and political basis of Indo-Aryan religion" अर्थात् "यों तो ऐसा कोई शासन ही नहीं निकला, चाहे वह प्राच्य हो या पाश्चात्य, प्रजातंत्र हो, राजतंत्र हो या नोकरशाही, जो प्रजा-पीड़नका साधन नहीं बनाया जा सकता था, बनाया गया है; परन्तु यूरोपियनोंकी यह धारणा कि भारतीय राजा सदैव दायित्व-हीन और स्वेच्छाचारी थे, कमसे कम मुसलमानोंके आनेके पूर्वके कालकी ओर ध्यान रखते हुए, उन मिथ्या धारणाओंमेंसे है जो यूरोपियनोंकी भारतीय इतिहासके विषयमें हैं। स्थानीय शासनकी जिस प्रथाको आर्य्य

दार्शनिकोंने आर्य्य धर्म्मकी सामाजिक और राजनैतिक नींव मान कर स्थापित किया था उससे अधिक वैज्ञानिक प्रथाका प्राचीन या अर्वाचीन यूरपके इतिहासमें पता नहीं हैं, न अन्य किसी प्रथामें बुराइयोंके रोकथामका इतना प्रबन्ध है।"

उपर्य्युक्त वर्णनसे यह पता चल सकता है कि यह सभाएँ प्रायः कैसा काम करती रही होंगी। उनकी कितनी प्रतिष्ठा थी यह इस बातसे प्रकट होती है कि जब कभी राजा या उसके प्रतिनिधियोंको भीतरी प्रबन्धमें हस्तक्षेप करना भी पड़ता था तो वह जो आज्ञाएँ निकालते थे वह राजके नामसे नहीं प्रत्युत सभाके नामसे।

अष्टम अध्याय ।

विद्या-प्रचार ।

राजकी समृद्धि और विद्या-प्रचारका घनिष्ठ सम्बन्ध है। वस्तुतः इनमें अन्योन्याश्रयता है। दरिद्र देश विद्याकी ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकता, उसको दिन रात रोटियोंकी ही पड़ी रहती है; मूर्ख देश अधिक धनी नहीं हो सकता, उसे धनोपार्जनकी सूक्ष्म युक्तियाँ सूझेंगी ही नहीं।

हिन्दुओंके लिये यह सौभाग्यकी बात थी कि प्रायः सभी प्रबल हिन्दू नरेशोंको विद्याका व्यसन था। यह लोग न केवल विद्याप्रेमी वरन् विद्वान् होते थे, न केवल गुणग्राहक प्रत्युत गुणी होते थे। विक्रम, भोज आदिके नाम संस्कृत साहित्यमें सदैव आदरके साथ लिये जायँगे। हर्ष भी, ऐतिहासिक दृष्टिसे, इन्हींके समकक्ष थे।

उनके विद्याप्रेमी होनेका यही प्रमाण है कि उन्होंने बाण कविको अपने यहाँ आश्रय दिया था। आश्रय भी सामान्य नहीं, स्वयं उनको अपने यहाँ बुलवा कर रक्खा था। उनकी विद्वत्ता इसीसे प्रकट है कि उन्होंने आप ही 'नागानन्द,' 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' नामके तीन नाटक लिखे हैं। साहित्यके मर्म्मज्ञ इन नाटकोंकी अच्छी प्रशंसा करते हैं। हर्षको गान-विद्यासे भी बड़ा प्रेम था और दर्शन शास्त्रमें भी उनकी अच्छी गति थी। दूर दूरके विद्वान्, कवि, चित्रकार, गायक दर्बारमें आश्रय पाते थे।

ऐसे समयमें शिक्षाका निःसन्देह बहुत विस्तार रहा होगा। हमको कुछ कुछ ह्युएन थ्साङ्गके वर्णनसे इसका पता चलता है।

बच्चे पाँच वर्षकी अवस्थामें वर्णमाला और 'सिद्धन' या 'सिद्धि अस्तु' आरम्भ करते थे। यह 'सिद्धि अस्तु' १२ पाठोंकी एक प्रारम्भिक पुस्तक थी। इन पाठोंमें बौद्धधर्म्मानुसार नीतिकी शिक्षाएँ थीं। सनातनधर्म्मावलम्बियोंके यहाँ सम्भवतः इसी ढङ्गकी कोई और पुस्तक रही होगी, पर ह्युएनने इस विषयमें कोई सङ्केत नहीं दिया है। बारह वर्षकी अवस्थामें बालकोंको पाँच शास्त्र अर्थात् व्याकरण, शिल्प और कला, तर्कशास्त्र, वैद्यक और दर्शन आरम्भ कराये जाते थे।

ह्युएन कहते हैं कि प्रत्येक विद्यार्थीको यह शिक्षा दी जाती थी। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि उस समय शिक्षाका क्रम अत्यन्त उदार था। जहाँ आजकल पण्डितोंमें एक ही शास्त्रके पीछे सारा जीवन नष्ट कर देनेकी प्रथा चल पड़ी है, वहाँ इसी देशमें पहले कितनी अच्छी पद्धति थी। यह ठीक है कि एक ही शास्त्रमें लग जानेसे विशेषज्ञता अधिक होती है, पर सच्ची विशेषज्ञता तो एक प्रकारकी सर्वज्ञताकी नींव पर ठहरती है। विशेषज्ञ पहले भी थे, पर आजकलके विशेषज्ञोंकी भाँति एकाक्ष नहीं।

तीस वर्षकी अवस्था तक विद्यार्थी पढ़ते थे। फिर गृहस्थ होकर काम-धन्धेमें लगते थे। पहला काम जो वह करते थे वह गुरु-दक्षिणा देना होता था। जो लोग कहते हैं कि आजकल लम्बा ब्रह्मचर्य्य पालन नहीं हो सकता उनको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हर्ष सत्ययुगमें नहीं, इसी कलिकालमें आजसे लगभग ९०० वर्ष पहले हुए हैं। उनके समय तक ३० वर्षका ब्रह्मचर्य्य होता था।

शिक्षा मौखिक होती थी। ह्युएनने अध्यापकोंकी बड़ी प्रशंसा की है। "यह आलसियोंको सिखाते और मन्दबुद्धियोंको तीव्र बनाते हैं।" पढ़ानेका क्रम भी अच्छा था। शिक्षक पहले पाठका सारांश कह जाते थे, फिर उसके एक एक अङ्गको विस्तारसे समझाते थे।

सामान्य अध्यापकोंके अतिरिक्त परिव्राजक भिक्षु भी बहुत काम करते थे। इनके द्वारा धार्म्मिक, नैतिक, दार्शनिक ज्ञानका अच्छा प्रचार होता था। "सत्य जाननेमें ही इनकी प्रतिष्ठा है। निर्धन होनेमें कोई अपमान नहीं।"

चार पाँच विश्वविद्यालय अत्यन्त प्रसिद्ध थे। तक्षशिलामें वैद्यककी और उज्जैनमें ज्योतिषकी शिक्षा बड़ी उत्तम दी जाती थी। काशी आर्य्यमतावलम्बियोंका सभी शास्त्रोंके लिये विद्यापीठ था। परन्तु उस समयके सभी विश्वविद्यालयोंमें नालन्द प्रसिद्धतम था। ह्युएन भी इसीके विद्यार्थी थे और उन्होंने इसीका सविस्तर वर्णन भी किया है। और सब भी न्यूनाधिक इसी प्रकारके रहे होंगे।

ह्युएनके वर्णनको पढ़ कर आश्चर्य्य होता है कि नालन्दके संस्थापक शिक्षा-विज्ञानके कैसे ज्ञाता थे। नालन्द वस्तुतः एक आदर्श संस्था था।

जब हर्षके आनेका समाचार मिला तो उनका स्वागत करनेके लिये सैकड़ों चमर, छत्र, झण्डी लिये हुए साधु आये। यह लोग इनको आदरके साथ विश्वविद्यालयके अधिष्ठाता श्रवण (साधु) शीलभद्रके पास ले गये। शीलभद्रको ह्युएनने "सद्धर्म्मकोष" कहा है। इनको रहनेके लिये अच्छा स्थान दे दिया गया। भोजन भी अत्युत्तम मिलता था। इन्होंने एक प्रकारके चावलकी बड़ी प्रशंसा की है जो मगधमें ही उत्पन्न होता था (नालन्द मगधमें ही था—सम्भव है कि

यह उस चावलको कह रहे हों जो विहारमें ही होता है)। यह चावल केवल राजवंश और प्रधान साधुओंको मिलता था।

मठमें (नालन्द वस्तुतः मठ था जो बढ़ते बढ़ते विश्वविद्यालय हो गया था) सुन्दर गगनस्पर्शी मीनार थे। कोठरियोंमें सुन्दर खिड़कियाँ लग रही थीं। लम्बी लम्बी दालानोंमें ऊँचें ऊँचे खम्भे लग रहे थे, जिनमें रत्न जड़े थे और फूलपत्ती बन रही थीं। उद्यानमें आमके घने कुञ्ज थे और नीलकमलसे सुशोभित चक्करदार नहरें बह रही थीं।

मठमें १०,००० व्यक्ति रहते थे। इनके भरण-पोषणके लिये राजसे १०० गाँव मिले थे।

विद्यार्थी बड़े उत्साहसे पढ़ते थे। दङ्गा-फ़िसाद नहीं होता था। सभी शास्त्र पढ़ाये जाते थे। १००० साधु तो सूत्रों और शास्त्रोंके १० ग्रन्थों के पण्डित थे, ५००, ३० ग्रन्थोंके, ह्युएनको मिला कर १० ऐसे थे जो ५० ग्रन्थोंके पारगामी थे, पर शीलभद्र सर्वशास्त्र निष्णात थे। दूर दूरके देशोंसे आये हुए विद्यार्थी पढ़ते थे, पर पढ़ाई इतनी कड़ी थी कि बहुत कम लोग ऊपर तक पहुँचते थे। इनके लिये थोड़े दिनों नालन्दमें रह कर पढ़ लेना ही गौरवकी बात थी। इससे ही घर लौटने पर अपने अपने देशोंमें इनकी बड़ी प्रतिष्ठा होती थी। जो लोग पूर्ण विद्वान् हो जाते थे उनका राजाके समान आदर होता था। सुन्दर झूलदार हाथी पर चढ़ाये जाते थे, छत्र लगता था, पीछे पीछे सैकड़ों मनुष्य रहते थे।

ह्युएनके वर्णनसे यह भी स्पष्ट है कि नालन्दमें किसी प्रकारका पक्षपात नहीं होता था। बौद्ध और आर्य्य दोनों विद्याएँ पढ़ी पढ़ाई जाती थीं, देशी विदेशीके साथ एक सा बर्ताव होता था। नालन्द वस्तुतः अपने विश्वविद्यालय नामको सार्थक करता था।

नवम अध्याय ।

धार्मिक विचार ।

हर्ष बौद्ध थे इसमें सन्देह नहीं, पर उनके विचार बड़े उदार थे। उनको अन्य किसी मतसे द्वेष न था। इतना ही नहीं, उनको शैव सम्प्रदायसे प्रेम भी था ।यदि ऐसा न होता तो उनके राजकवि बाणको दिग्विजयका वर्णन करते हुए "विरचय्य परमया भक्त्या भगवतो नीललोहितस्यार्चाम्" (भगवान् नीललोहितकी परम भक्तिसे पूजा करके) लिखनेका साहस न होता ।

हर्ष केवल शिवकी ही नहीं, वरन् समय पर विष्णुकी भी पूजा करते थे, उनके पिता सौर थे, उनके ज्येष्ठ भ्राता हीनयानमतावलम्बी थे।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं धीरे धीरे आर्य्यधर्म्मका अभ्युदय हो रहा था। गृहस्थोंके अतिरिक्त हिन्दू साधु भी बहुत थे। यह लोग प्रायः आजकलके साधुओंसे मिलते जुलते थे। ह्युएन कहते हैं– "कोई मोरपंख पहिनता है, कोई नरकपालकी माला धारण करता है, कोई नङ्गा फिरता है, कोई शरीरको घास या तख्तियोंसे ढँक लेता है। कोई मुण्डी है, किसीके जटा है। सब रंग रंगके वस्त्र पहिनते हैं।" बौद्धधर्म्म यहाँ तक हतप्रभाव हो गया था कि बुद्ध-गया और पाटलिपुत्र ऊजड़ग्राम हो रहे थे।

फिर भी दोनों धर्म्मोंमें विशेष विद्वेष नहीं था। कमसे कम उस समय धर्म्मान्धताका परिचय एक ही मनुष्यने प्रधान रूपसे दिया। गौड़ेश शशाङ्कने, जिसकी दुष्कीर्ति पहले भी बतलाई जा चुकी है, गयाका बोधिवृक्ष, जिसके नीचे बुद्ध भगवान्‌ने निर्वाण प्राप्त किया था, उखाड़ कर फिंकवा दिया। पीछेसे पाटलिपुत्रके राजा पूर्णवर्म्माने, जो अशोकके वंशज थे, उसे फिर स्थापित कराया।

हर्षके धार्म्मिक जीवनमें ह्युएनका भी अंश है। अतः इन दोनों महान् आत्माओंके समागमका वृत्तान्त किञ्चित् विस्तारसे देना आवश्यक है।

जिस समय ह्युएन नालन्दमें योगशास्त्र पढ़ रहे थे उनको आसामके राजा भास्करवर्म्मा (कुमार) ने बुलाया, उसके बहुत आग्रह करने पर इन्होंने जाना स्वीकार किया। इसके पहले हर्ष कई बार बुला चुके थे, पर यह नहीं गये थे। कुमार स्वयं हिन्दू थे, पर उन्होंने उनका बड़ा आदर किया और अपने प्रासादमें ठहराया।

जब हर्षने यह समाचार पाया तो कुमारके पास कहला भेजा कि ह्युएनको भेज दो। कुमारने अभिमानमें आकर कह दिया—"मैं अपना सिर भेज दूँगा, पर ह्युएनको न भेजूँगा।" हर्षका उत्तर आया—"तत्काल अपना सिर भेजो।" अब कुमार घबराये; अन्तमें स्वयं ह्युएनको लेकर हर्षके पास आये।

आने पर हर्षने ह्युएनसे पूछा कि आप पहले मेरे बुलाने पर क्यों नहीं आये थे। इन्होंने उत्तर दिया—"मैं उस समय 'योगचर्य्या भूमिशास्त्र' नामक ग्रन्थ पढ़ रहा था, इसीसे न आ सका।" फिर हर्षने इनसे 'चिनवांगके विजयका गान' और 'सातों सद्गुणोंका नाच' नामक चीनी गान और नृत्यकी उत्पत्ति पूछी। यह गान और नृत्य

एक चीनी विद्रोहीके पराजित होने और यथोचित दण्ड पानेके विषयमें थे। हर्षने कुमारको चौकन्ना करनेके लिये ही इनका कथन छेड़ा था। अस्तु, संकेत द्वारा सूचित करके, उनको क्षमा मिल गई।

हर्षको यों ही धर्म्मकी ओर बहुत कुछ ध्यान था। राज्यमें भोजनके लिये पशु मारना मना था। महलमें प्रति दिन ५०० ब्राह्मण और १,००० बौद्ध साधु भोजन पाते थे। संघका प्रति वर्ष अधिवेशन होता था। जिसमें सद्धार्म्मिकोंकी प्रशंसा होती थी और अनियमित काम करनेवालोंको यथार्ह दण्ड मिलता था। अब ह्युएनके सत्सङ्गसे धार्म्मिक भाव और भी बढ़ गया। पहले हर्ष और राज्यश्रीको हीनयान अभिमत था, अब ह्युएनने एक विशेष पुस्तक लिख कर और तर्क द्वारा संशयोच्छेदन करके इन दोनोंको महायानावलम्बी बनाया। कई और दार्शनिक ह्युएनसे शास्त्रार्थ करनेके लिये बुलाये गये। बीचमें हर्षको पता लगा कि कुछ लोग ह्युएनके प्राणोंके शत्रु हो रहे हैं। इस पर उन्होंने यह घोषणा निकाली—"यदि किसीने धर्म्मोपदेशकको रत्तीभर भी क्षति पहुँचाई तो वह मार डाला जायगा; जो उनके विषयमें किसी प्रकारका अपवाद करेगा उसकी जिह्वा काट डाली जायगी; परन्तु जो लोग उनकी शिक्षासे लाभ उठाना चाहते हैं उनके लिये कोई डरकी बात नहीं है।" १५ दिन तक कोई शास्त्रार्थ करनेके लिये खड़ा न हुआ, इस लिये ह्युएनकी जीत मान ली गई।

अपने मत परिवर्तनके पीछे हर्षका यह विचार हुआ कि सामान्य प्रजाको इस शिक्षासे लाभ उठानेका अवसर दिया जाय। उस समय वह बङ्गालमें थे। वहाँसे गङ्गाके दक्षिण किनारे किनारे कन्नौज चले। उत्तर किनारे पर कुमार थे। इस प्रकार धीरे धीरे तीन महीनोंमें यह लोग कन्नौज पहुँचे।

सम्वत् ७२१ वि० के फाल्गुन या चैत्रमें एक महासभा की गई। इसमें कुमार और वल्लभीके राजाके अतिरिक्त १८ और अधीन नरेश सम्मिलित हुए थे।। ३००० ब्राह्मण और जैन और ४००० बौद्ध साधु आये थे। कई बड़े बड़े महन्त झण्डे पताकेके साथ हाथियों और पालकियों पर चढ़ कर आये थे।

सभाके लिये एक बृहत् मण्डप बनाया गया था। उसके पास ही एक छोटे मण्डपमें बुद्धकी मनुष्यके बराबर मूर्ति रक्खी थी। नियत दिन बुद्धकी एक स्वर्णप्रतिमा, जो इसी दिनके लिये बनाई गई थी, हाथी पर एक रत्नजड़ित छोटेसे सुवर्णमन्दिरमें पधरा कर घुमाई गई। उसके एक पार्श्वमें हाथमें छत्र लिये हर्ष हाथी पर थे, दूसरी ओर कुमारका हाथी था। कुमारके हाथमें चँवर था। यह लोग बुद्ध, धर्म्म और सङ्घके नाम पर सोना, मोती आदि लुटाते जाते थे। इनके पीछे हाथियों पर और लोग थे। मण्डपके द्वार पर सब लोग उतरे। मूर्तिके लिये पहलेसे ही एक सिंहासन रक्खा था। वह उस पर रख दी गई। ह्युएन सभापति थे। उन्होंने शास्त्रार्थ आरम्भ किया। उन्होंने अपना सिद्धान्त एक कागज पर लिख कर मण्डपके द्वार पर कीलसे जड़ दिया था। उस कागज पर यह भी लिखा था—"यदि कोई मेरे तर्कमें कोई भूल निकाल दे या मेरे मतको खण्डन कर दे तो उसे अधिकार है कि मेरे सिरको काट डाले।"

कई दिनों तक शास्त्रार्थ चला, पर जीत ह्युएनकी ही रही। पहले-की भाँति अब भी कोई विरोधी खड़ा न हुआ। खेद है इस उत्सव-का अन्त वैसा सुखपूर्ण न हुआ जैसा कि इसका आदि था। न जाने कैसे मण्डपमें आग लग गई। उसके बुझने पर हर्षको मारनेके लिये एक मनुष्य कटार लेकर दौड़ा, परन्तु पकड़ लिया गया। बहुत पूछ-

ताछ करने पर यह पता लगा कि बौद्धोंकी बढ़ती देख कर ब्राह्मणोंने उसे राजहत्या करने पर उद्यत किया था। आग भी उन्हींने लगवाई थी। सम्भव है यह सब पुलिसकी चालबाज़ी रही हो—स्मिथका अनुमान है कि यों ही धर्मकी दे-दिला कर यह सब कहलवा लिया गया—पर व्यर्थको दोनों धर्म्मोंमें वैमनस्य उत्पन्न हुआ। कई मनुष्योंको फाँसी दे दी गई और ५०० ब्राह्मणोंको देशनिकाला दिया गया।

तिब्बतके तारानाथने एक कहानी लिखी है, जिसमें हर्षमें तीव्र धर्म्मान्धता आरोपित की गई है। वह कहता है कि हर्षने मौलस्थान (सम्भवतः मुल्तान) में पारसी धर्म्मके उपदेशकोंके लिये लकड़ीका एक उत्तम निवास-स्थान बनवाया और कई महीनों तक उनका बड़ा सत्कार किया, फिर उस मकानमें आग लगवादी और साथ ही इस विदेशी धर्म्मके १२,००० अनुयायियोंको उनके ग्रन्थोंके समेत जलवा दिया। बिना पुष्ट प्रमाणके विश्वास नहीं होता कि हर्ष ऐसे उदाराशय नरेशने ऐसा निर्घृण काम किया होगा। पर यह सम्भव है कि कन्नौजकी महासभाकी भाँति वहाँ भी किसी प्रकारका उपद्रव हुआ हो और हर्ष कुछ लोगोंको दण्ड देने पर बद्ध हुए हों। कथनानुकथन-परम्परामें थोड़ीसी संख्याका १२,००० हो जाना सामान्य बात है।

दशम अध्याय ।

प्रयागका पञ्चवार्षिक मेला ।

प्रति पाँचवें वर्ष हर्ष प्रयागमें एक प्रकारका मेला कराया करते थे। यह मेला माघ या फाल्गुनमें होता था। आश्चर्य्य नहीं कि उस समय भी आजकलकी भाँति प्रयागमें माघमेला होता रहा हो और हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष मेलेके समय ही अपनी ओरसे समारोह कराते रहे हों।

जिस साल ह्युएन और हर्षकी भेंट हुई थी वह मेलेका ही वर्ष था। यह मेला हर्षके राजकालका छठा था। ह्युएन भी उसे देखने हर्षके साथ गये। हर्षने यह भी बतलाया कि यह उनके पूर्वजोंकी प्राचीन प्रथा थी। यह सम्भव है कि यदि हर्षके पूर्वज नहीं तो पूर्ववर्ती चक्रवर्ती इस प्रकारका कोई मेला कराते रहे हों।

यह मेला धार्म्मिक था। प्रयागमें धार्म्मिक मेला होना ही चाहिए था। इसका प्रधान उद्देश्य दान करना था, यों तो राजा प्रजाके समागमसे एक राजनैतिक अर्थ भी सिद्ध होता ही था। धार्म्मिक कृत्योंमें बड़े छोटेका प्रभेद कुछ न कुछ मिट जाता है, अतः ऐसे अवसरों पर आपसका बहुत कुछ वैमनस्य दूर हो जाता है और यदि राजा चतुर हो तो प्रजाके साथ धार्म्मिक क्षेत्रमें उतर कर उनके हृदयकी बहुतसी बातें जान सकता है।

सङ्गमके पासकी रेतमें एक बड़ा मैदान घेर लिया गया था। इसके चारों ओर लकड़ीके खम्भे गड़े थे और इन खम्भोंके बीचमें गुलाबकी

मालाएँ लटक रही थीं। इस मैदानके बीचमें कई छप्पर डाली हुई कोठरियाँ (या झोपड़ियाँ) थीं, जिनमें कोषका फालतू धन रक्खा हुआ था। इनके चारों ओर लम्बे लम्बे चौपाल थे जिनमें बहुमूल्य रेशमी वस्त्र, कमखाब आदि भरा पड़ा था। इनके बाहर १०० चौपालोंका एक घेरा था, जिनमें भोज्य-वस्तुओंका भण्डार था।

ढाई महीने तक मेला रहा। पहले दिन सब अधीन राजाओंका जलूस निकला। दूसरे दिनसे धार्म्मिक कार्य्य आरम्भ हुआ।

धार्म्मिक कृत्यके आरम्भमें बुद्धकी पूजा हुई और बहुतसा धनधान्य वितरण किया गया। दूसरे दिन विष्णु (स्मिथ कहते हैं सूर्य्यकी—विष्णु हैवेलका मत है, यों तो सौर और वैष्णव उपासनामें अङ्ग अङ्गीका सम्बन्ध है) और तीसरे दिन शिवकी पूजा हुई। इन दोनों दिनोंमें बुद्धकी आधी आधी भेंट चढ़ी। हैवेल कहते हैं कि बुद्ध राजस और विष्णु सात्विक माने जाते थे। यह समझमें नहीं आता। बौद्ध-मतावलम्बी जब मानेंगे तब बुद्धको सात्विक ही मानेंगे और फिर यदि विष्णु सात्विक माने जाते तो पहले उनकी ही पूजा हुई होती।

पूजा-पाठ हो चुकने पर दान आरम्भ हुआ। १०,००० बौद्ध साधुओंको भोजन कराया गया। इनमेंसे प्रत्येकको दक्षिणा रूपसे १०० निष्क (अशरफ़ी), एक मोती, एक सूतीवस्त्र, पुष्प और गन्ध दिये गये। फिर बीस दिनों तक ब्राह्मणोंकी बारी रही। दस दिनों तक जैन आदि भिन्न भिन्न मतोंके साधु-संन्यासी दान पाते रहे। सबके पीछे एक महीने तक अनाथ, रोगी, अपाहिज आदि निर्धन गृहस्थोंको भिक्षा मिलती रही।

महीनेके अन्तमें सेना आदि राज्यके परमावश्यक विभागोंकी सम्पत्ति छोड़ कर, कोषमें ५ वर्षके भीतर जो कुछ एकत्र हुआ था सब बँट

गया। फिर हर्षने अपनी निजी सम्पत्ति—सवारियाँ, कपड़े, कुण्डल, कण्ठहार, यहाँ तक कि मुकुटमणि भी—सब बाँट डाली। जब उनके पास कुछ न रह गया तो उन्होंने अपना बहिन राज्यश्रीसे एक पुराना वस्त्र भिक्षा माँग कर लिया और इसी वेषमें दश दिशाओं (या लोकों) के बुद्धोंकी पूजा की और हर्ष प्रकट किया कि मेरा धन धर्म्ममें व्यय हुआ। पीछेसे अठारहों अधीन राजाओंने साधु-ब्राह्मणोंसे हर्षके बँटे हुए रत्न-वस्त्र आदि मोल लेकर कर रूपमें उनको भेंट कर दिये, पर उन्होंने उन्हें फिर बाँट दिया।

इस प्रकारका महादान और किसी देशने काहेको देखा होगा। इतनी उदारता, निष्पक्षता, दानशीलता, भारतीय धर्म्मकी ही शिक्षा है, चाहे समयानुसार उस धर्म्मका कुछ भी नाम हो। लङ्का आदिमें अब भी प्रथा है कि बौद्ध गृहस्थ वर्षमें एकाध दिनके लिये साधुवत् जीवन बिताते हैं। हर्षके इस उदाहरणसे यह लाभ होता रहा होगा कि उस समयके धनियों, राजों, महाराजों पर त्यागका महत्त्व प्रकट हो जाता रहा होगा। इसी शिक्षाको देनेके लिये सर्व त्याग करके और भिक्षुक बन कर हर्ष बुद्धोंकी अन्तिम पूजा करते थे। सबको दानमें भागी बना कर धार्मिक मेल-जोलका अच्छा उपदेश दिया जाता था।

एकादश अध्याय ।

ह्युएनकी बिदाई ।

मेला समाप्त होने पर ह्युएनने घर लौटनेकी आज्ञा माँगी। पहले तो हर्ष रोकना चाहते थे, पर बहुत आग्रह करने पर जाने देना स्वीकार किया। हर्ष और कुमारने बहुत चाहा कि यह कोई भेंट लें, पर इन्होंने कुछ न लिया, हाँ मार्गव्यय लेना अङ्गीकार किया।

इसके लिये हर्षने एक हाथी पर ३००० अशरफ़ी और १०,००० रुपये लदवा दिये और राज्यकी सीमा तक पहुँचानेके लिये उद्धित नामके एक राजाको साथ कर दिया। छः महीनेमें यह लोग धीरे धीरे मार्गमें ठहरते ठहरते जालन्धर पहुँचे। वहाँ एक महीने ठहर कर यह नमकके पहाड़ और पामीरके रास्ते खोतन होते हुए सं० ७०२ में चीन पहुँचे।

रास्तेमें इनके सामानका कुछ अंश लुट गया और कुछ यों ही छूट-छाट गया। फिर भी जब यह घर पहुँचे तो इनके पास बुद्धके लगभग १५० स्मारक (हड्डी, दाँत इत्यादि), सोने, चाँदी और चंदनकी मूर्तियाँ और ६५७ संस्कृत और पाली पुस्तकें थीं। लगातार सोलह वर्ष परिश्रम करके इन्होंने इनमेंसे ७४ पुस्तकोंको चीनीमें अनुवाद किया। सं० ७२१ में इनका देहान्त हुआ। अब भी चीनके मठोंमें न जाने कितनी संस्कृत और पालीकी अमूल्य और अन्यत्र अलभ्य

पुस्तकें पढ़ी हैं। यदि खोज की जाय तो भारतीय इतिहास, विज्ञान, दर्शनके न जाने कौन कौनसे तत्त्व अवगत हो जायँ जो अब गुप्त हैं।

ह्युएन अपनी भारत-यात्रासे प्रायः प्रसन्न ही रहे। कहीं कहीं उन्होंने लोगोंकी अश्लीलता पर आक्षेप भी किया है, परन्तु प्रायः यही लिखा है कि जनता विद्याप्रेमी थी। उसको कर्म्मसिद्धान्तमें विश्वास था और विद्वानों तथा धार्मिक लोगोंका बड़ा आदर होता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय शुद्ध और मितव्ययी होते थे। वह सादगीसे जीवन बिताते थे और दिखावेसे दूर रहते थे।

इसके अतिरिक्त कई बातोंका हम स्वयं अनुमान कर सकते हैं। देश समृद्ध था, शासन कड़ा पर न्यायमूलक था, राजा उदार और धार्म्मिक था—ऐसी अवस्थामें प्रजामें वह सभी सद्गुण रहे होंगे जो एक विशाल, सुशिक्षित, वैभवयुक्त और स्वतंत्र देशके नागरिकोंमें होते हैं।

द्वादश अध्याय ।

हर्षकी मृत्यु और तत्पश्चात् भारत-दुर्दशा ।

सम्वत् ७०४ या ७०५ में हर्षकी मृत्यु हुई। मृत्युके पहले उनको कोई रोग हुआ था या क्या बात थी इसका कुछ विशेष पता नहीं है। उस समय उनको राज्य करते ४२ वर्ष हो गये थे। इस गणनासे उनकी अवस्था लगभग साठ वर्षकी रही होगी।

उनके मरते ही राजमें खलबली फैली। अर्जुन या अरुणाश्व नामक एक मंत्रीने इससे लाभ उठाया और राजवंशको हटा कर स्वयं राजा बन बैठा। जो प्रान्त और अधीन नरेश स्वतंत्र बन सके वह पृथक् हो गये और साम्राज्य अदृश्य हो गया।

हर्षके जीवनकालमें चीन और भारतमें राजनैतिक मैत्री थी। हर्षने ६९८ में चीन सम्राट्के पास एक राजदूत भेजा था, उत्तरमें ६९९ में चीनसे एक राजदूत आया।

दो एक साल पीछे चीनसे फिर वाङ्ग-ह्युएन-त्से नामक एक दूत आया। इसके साथ आत्म-रक्षणार्थ ३० सवार थे। जब तक यह लोग मगध तक पहुँचे, हर्षकी मृत्यु हो चुकी थी और अरुणाश्व राजा बन बैठा था। इस मूर्खने चीनियों पर धावा कराया। उनकी सारी सामग्री लूट ली गई और सिवाय वाङ्ग और उसके एक साथीके सब मारे गये।

वाङ्ग भाग कर नैपाल पहुँचा। नैपाल उन दिनों तिब्बतके अधीन था और तिब्बतके महाराजा, विख्यात स्रौंङ्ग-त्सान-गैम्पोकी महिषी चीनी

राजकुमारी थीं। अतः उन्होंने १००० तिब्बती सिपाही दिये और नैपालसे ७००० की कुमक मिली। इन ८००० मनुष्योंको लेकर वाङ्ग भारत लौटा। तीन दिनोंमें तिरहुत नगर जीता गया। ३००० सिपाहियोंका सिर काट लिया गया और १०,००० मनुष्य नदीमें डुबा दिये गये। अरुणाश्वने कुछ सेना एकत्र करके लड़ना चाहा, पर स्वयं पकड़ा गया। उसका कुटुम्ब भी विजेताओंके हाथ लगा। वाङ्गने इस अवसर पर १२,००० सिपाहियोंको कैद किया, १००० को मरवा डाला और ३०,००० गाय बैल पकड़े। ५८० नगरोंने उसका आधिपत्य स्वीकार किया। इन लड़ाइयोंमें कुमारने भी उसकी सहायता की थी।

यह सब कर धरके वाङ्ग चीन लौटा। वहाँ, जैसा कि उचित ही था, उसकी पदवृद्धि की गई और अरुणाश्व चीनमें ही कैदमें मरा। इसके दस वर्ष पीछे वाङ्ग बौद्ध यात्री बन कर फिर भारत आया। उसे चीनी सम्राट्ने बौद्ध तीर्थमें वस्त्र चढ़ाने भेजा था। वह नैपालके मार्गसे आया और कपिश (उत्तरी अफ़गानिस्तान) के मार्गसे लौट गया।

इस घटनाका वृत्तान्त लिखते और पढ़ते लज्जा आती है। हूण और शक भारतमें सहस्रोंकी संख्यामें आये थे, फिर उस समय कोई प्रबल राज्य भी नहीं था जो उनका सामना कर सकता। मुसलमानोंके आक्रमणोंकी भी यही बात थी। पर ८००० गिने गिनाये मनुष्य इतने बड़े देशमें इतना उत्पात मचा जायँ और विजयपताका फहराते घर लौट जायँ! वह भी ऐसे समय जब कि हर्ष ऐसे पराक्रमी और यशस्वी नरेशकी अभी मृत्यु हुई हो! अरुणाश्वका राज्य छीनना क्या हुआ, भारतके सारे बल, वैभवको कोई हवा उड़ा ले गई। एक नीच मनुष्य एक समुदायको कहाँ तक गिरा सकता है उसका इससे बढ़कर उदाहरण स्यात् ही कहीं और मिले।

त्रयोदश अध्याय ।

भारतीय इतिहासमें हर्षका समय ।

भारतके मध्यकालीन इतिहासमें हर्षका स्थान अत्यन्त महत्त्वका है। वह उत्तर भारतके अन्तिम हिन्दू सम्राट् थे—उनके पीछे पृथ्वीराज, साँगा, प्रताप आदि एकसे एक प्रतापी और पराक्रमी नरेश हुए, पर ऐसा कोई नहीं हुआ जो सम्राट् कहा जा सके ।

वह एक ऐसे समयमें हुए थे जब भारतीय इतिहासमें कई महान् परिवर्तन हो रहे थे और होनेवाले थे। इनके कुछ काल पहले तक भारत पृथ्वीके अन्य देशोंसे एक प्रकारसे पृथक् रहता था । व्यापार निःसन्देह होता था, पर विशेष आना जाना नहीं था। चन्द्रगुप्त और अशोकके समयमें निःसन्देह घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था, पर वह समय और था। तब यूनानियोंको छोड़ कर ऐसी और कोई जाति न थी जो सभ्यतामें भारतीयोंके सामने खड़ी हो सके। यूनानी भी कई बातोंमें भारतके ऋणी थे। भारतमें ऐक्य था, शासन बलशाली था, जनतामें नया धार्म्मिक उमङ्ग और उत्साह था।

अब यह बात नहीं थी। भारतके कई पड़ोसी उससे बढ़कर बलवान् और समृद्ध हो गये थे। हूणोंके आक्रमणोंने देशको तोड़ दिया था। हर्षका साम्राज्य उनके व्यक्तित्वका सूचक था; उसमें जो कुछ शक्ति थी सब उनकी निजकी शक्ति थी। उनके देहावसान होते ही

साम्राज्य बालूकी भीतकी भाँति गिर गया—उसके सब टुकड़े जिनको उन्होंने बलात् एक सूत्रसे ग्रथित कर रक्खा था, देखते देखते बिखर गये। देशमें जातीयता तो रह गई थी नहीं, सबको अपनी अपनी पड़ी थी। यदि ऐसा न होता तो यह कब सम्भव था कि ८००० मनुष्य लेकर बाङ्ग लाखों भारतीयोंको इस प्रकार नाच नचाता।

जातीयताके लिये कई साधन चाहिए। उनमेंसे एक शासनके अधीन होना भी है। यह यहाँ था ही नहीं, ज़िले ज़िलेमें राजा अलग था। गाँवके बाहर निकले और परदेस हुआ। यदि हर्षका साम्राज्य दो चार पुस्त चलता तो जातीयताका भाव जाग्रत हो जाता, पर वह बदा न था। यदि शासन एक न हो तब भी जातीयताका भाव उदय हो सकता है—यदि शासक क्रूर और लोभी, विशेषतः यदि वह विदेशी हो। यहाँ यह बात भी न थी। सभी राजे महाराजे स्वदेशी थे और शासन-प्रणाली प्रायः न्यायमूला थी। लोगोंको परतंत्रताका दुःख भुगतना पड़ा ही नहीं, जिससे कि जातीयभाव जागता।

धार्म्मिक उमंग भी न था। बौद्धधर्म्म गिर रहा था या धीरे धीरे सनातन धर्म्ममें विलीन हो रहा था। पर अभी उसके पुराने वैभवकी स्मृति अवशिष्ट थी। उसकी दशा एक टिम-टिमाते दीपककी सी थी जो अब-तबमें बुझनेवाला हो। उधर वैदिक धर्म्म उन्नति पर था और उसके अनुयायियोंमें उत्साह अवश्य था, पर इनकी शक्ति बौद्धोंसे तकरार करनेमें लगती थी। इसके अतिरिक्त सनातन धर्म्मके सिद्धान्त बड़े उदार और व्यापक हैं। उनमें वह एकतत्त्वता और संकीर्णता नहीं है जो लोगोंको एक प्रकारसे धर्म्मान्ध बना कर विचित्र आवेशसे भर देती है। बौद्ध मात्रका बुद्धसे, ईसाईका ईसासे, मुसलमानका मुहम्मदसे सम्बन्ध है, पर हिन्दूका

किससे नाता है ? वह किसके नाम पर लडे मरे ? कोई वैष्णव है, कोई शैव है, कोई शाक्त है और अपने अपनेको सभी बड़े हैं । वेद इन सबका आधार है इसमें सन्देह नहीं, पर वेदसे सामान्य जनताको सरोकार नहीं, कितनोंको नाम तकका पता न होगा, देखना जानना तो दूर रहा । यह दशा न्यूनाधिक तब भी रही होगी । अतः वह धार्मिक उत्साह भी नहीं था जो समय पर जातीयताका काम देता है ।

यहाँ तो यह कचाई थी, उधर एक ऐसी घटना हुई जिसने भारत ही नहीं पृथ्वीके इतिहासका रूप पलट दिया । अरबमें मुहम्मद साहबने इस्लामका प्रचार आरम्भ किया । सं० ६७९ में उनको मक्का छोड़ कर मदीना जाना पड़ा । बस वही वर्ष इस्लामकी उन्नतिका प्रथम वर्ष है और उसीसे मुसलमानी संवत् हिजरीकी गणना होती है । इस नये धर्म्ममें व्यापकता और दार्शनिकता बहुत कम थी । खुदा, रसूल, कुरान, बहिश्त, दोज़ख, शैतान, सभी सीधी सादी बातें थीं और गँवारसे गँवारकी समझमें आ सकती थीं । स्वर्गप्राप्तिके साधन भी बहुत दुष्कर नहीं थे । सबसे बड़ी बात यह थी कि मनुष्य मनुष्यमें किसी प्रकारका भेदभाव नहीं रक्खा गया । कमसे कम मुसलमान हो जाने पर सभी भेदभावोंका नाश मान लिया गया ।

इस धर्म्मने अरबकी अर्ध-सभ्य जातियोंमें एक नया प्राण फूँक दिया । गँडेरिये जगद्विजयी हो गये । ऐक्य, धैर्य्य, सहिष्णुता, आदि सद्गुण उनमें सहजमें ही उत्पन्न हो गये, विद्यानुराग जाग उठा; ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिकी एक सुगम और सुखद कुञ्जी हाथ लग गई ।

इधर इनकी तो यह अवस्था थी, उधर प्राचीन सभ्यताके स्तम्भ, भारत, मिश्र, रोम, फ़ारस, अपने हाथों अपनी अपनी समाधियाँ बना रहे थे। परिणाम जो हो सकता था हुआ—इतिहास उसे बतला ही रहा है।

इसी लिये हर्षका समय महत्त्वका था। प्राचीनता और नवीनताका सामना था। प्राचीन धर्म्म और सभ्यता, प्राचीन भारतके पुरातन गौरवकी अन्त्येष्टि, नवीन धर्म्म और सभ्यता, नये देशोंके भावी गौरवका गर्भाधान, यह दोनों दृश्य युगपत् देख पड़ते थे। यदि हर्षके समान दो चार सम्राट् लगातार होते जाते तो कदाचित् इतिहासके पृष्ठों पर कुछ और ही लिखा जाता, परन्तु—

यदभावि न तद्भावि, भाविचेन्न तदन्यथा।

समाप्त।